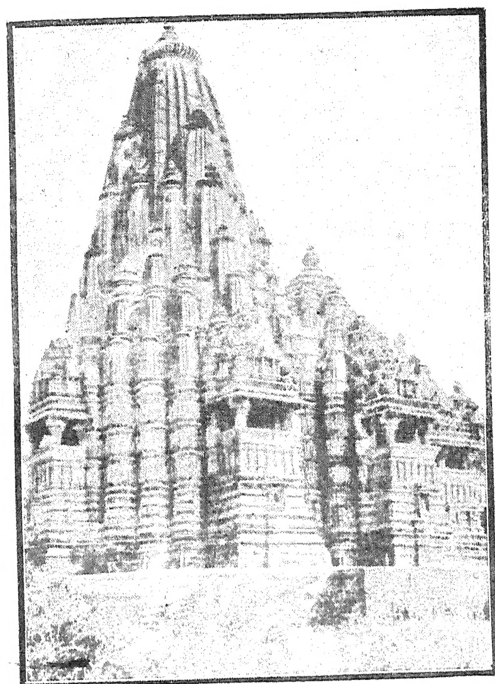
प्राचीन चिह्न



महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्राचीन चिह्न

लेखक
महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२९

प्रथम संस्करण] [मूल्य ॥।)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

निवेदन

प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की पूर्वार्जित सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने के जो साधन हैं उन साधनों में प्राचीन इमारतें, प्राचीन स्थान और प्राचीन वस्तुएँ सबसे अधिक महत्त्व की समझी जाती हैं। क्योंकि पुराने शिलालेखों, ताम्रपत्रों और धातुजात सिक्कों के सिवा यही चीज़ें अधिक समय तक, जीर्ण और शीर्ण हो जाने पर भी, देखने को मिल सकती हैं। यही कारण है जो पुरातत्त्व-विभाग के कार्यकर्त्ता भारत के प्राचीन खँडहरों और ध्वंसावशेषों को खोद-खोदकर उनके भीतर पृथ्वी के पेट में, गड़े हुए पदार्थ ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल रहे हैं और जो इमारतें टूट-फूट रही हैं उनकी मरम्मत करा-कर उनको नष्ट होने से बचा रहे हैं।

इस संग्रह में जो लेख दिये जाते हैं उनमें से कुछ लेखों में बहुत प्राचीन और बहुत प्रसिद्ध बौद्धकालीन इमारतों, गुफाओं और ऐतिहासिक पदार्थों के वर्णन हैं। छः लेखों में पुराने नगरों, स्थानों और मन्दिरों के संक्षिप्त विवरण देकर उनकी प्राचीन ऊर्ज्जितावस्था का भी उल्लेख किया गया है। जो मन्दिर या स्थान अब तक अस्तित्व में हैं उनके दर्शन तो अब भी होते ही हैं; पर जो नष्ट-भ्रष्ट हो चुके उनकी स्मृति की रक्षा का एकमात्र उपाय अब उनके वर्णन से पूर्ण पुस्तकें ही

हो सकती हैं। इसी से ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है जिनमें ऐसे वर्णन पढ़ने को मिल सकें।

इस पुस्तक में क़ुतुब-मीनार पर भी एक लेख है। उसमें इस बात का भी विचार किया गया है कि वह इमारत कब बनी, किसने बनवाई और वहाँ पर पहले कोई हिन्दू-मन्दिर या इमारत थी या नहीं।

संग्रह के पिछले चार लेखों का सम्बन्ध दूसरे देशों से है। पर जो कुछ उनमें है वह मनोरञ्जक और कौतूहल-वर्द्धक होने के सिवा, अन्य दृष्टियों से भी, ज्ञानप्रद अतएव जानने योग्य है।

संग्रह में लेखों को स्थान दिये जाने का क्रम, लिखे जाने के समय के अनुसार, नहीं। जिन लेखों का विषय परस्पर कुछ मिलता-जुलता है वे पास-पास रक्खे गये हैं। अन्य देशों से सम्बन्ध रखनेवाले पिछले चारों लेखों को अन्त में स्थान दिया गया है।

दौलतपुर (रायबरेली)
१५ नवम्बर १९२७

महावीरप्रसाद द्विवेदी

लेख-सूची

प्राचीन चिह्न

१—साँची के पुराने स्तूप

इस लेख के द्वारा हम लगभग २५०० वर्ष की कुछ पुरानी इमारतों का संक्षिप्त वर्णन सुनाते हैं। वे इमारतें बौद्ध लोगों के स्तूपों का एक समूह है। इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं कि स्तूप किसे कहते हैं। जिसने बनारस में सारनाथ का स्तूप देखा है वह स्तूप का मतलब अच्छी तरह जानता होगा।

किसी-किसी का ख़याल है कि घर और मन्दिर इत्यादि बनाने और पत्थर पर नक्क़ाशी का काम करने की विद्या हम लोगों ने ग्रीसवालों से सीखी है। या, अगर सीखी नहीं, तो उनकी विद्या से थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य उठाया है। परन्तु यह बात निर्म्मूल है। ग्रीकों और हिन्दुओं का सङ्घर्ष, ईसा के पहले, चौथी शताब्दी में हुआ। परन्तु साँची के स्तूप इस बात की गवाही दे रहे हैं कि उससे भी पहले भारत-वर्ष के वासियों ने अद्भुत-अद्भुत मन्दिर बनाना आप ही आप सीख लिया था। इन स्तूपों से एक और बात का भी पता

लगता है। उसके चित्र यह ज़ाहिर करते हैं कि जिस समय ये स्तूप बने हैं उस समय, नहीं उससे भी पहले, इस देश के निवासी शिल्पकला, साधारण सभ्यता और विद्या में बहुत बढ़े-चढ़े थे। जब कोई कम सभ्य या असभ्य जाति किसी सभ्य जाति का संसर्ग पाती है तब वह तत्काल ही उसकी सभ्यता की नक़ल नहीं करने लग जाती। इसके लिए कुछ समय दरकार होता है। अतएव, यदि, क्षण भर के लिए, यह भी मान लें कि ग्रीक ही लोगों ने हमको घर बनाना सिखलाया, तो यह कदापि नहीं माना जा सकता कि हमारा और उनका योग होते ही उन्होंने मूर्त्तियाँ खोदने और दीवार उठाने पर सबक़ देना शुरू कर दिया! ऐसा होना ख़याल ही में नहीं आ सकता। अँगरेज़ों को इस देश में आये कई सौ वर्ष हुए। पर, हमने, इतने दिनों में कितना कला-कौशल सीखा? इस देश में पुराने मन्दिरों और पत्थर के कामों के जो नमूने जहाँ-तहाँ रह गये हैं उनका ढङ्ग ही निराला है। अतएव वे किसी की नक़ल नहीं हैं। बौद्धों के पुराने स्तूपों को देखकर कनिंहाम और फरगुसन इत्यादि विद्वानों को उनकी प्राचीनता और उनके शिल्पनिर्म्माण की अद्भुतता पर बड़ा आश्चर्य्य हुआ है। उन्होंने यह साफ़-साफ़ क़बूल कर लिया है कि भारतवर्ष ने इस विद्या में बहुत बड़ी उन्नति की थी और जब अँगरेज़ों के पूर्वज वन में वनमानुसों के समान रहते थे तब भारतवर्षवाले ऐसे स्तूप, मन्दिर और प्रासाद बनाते थे

जिनको देखकर आजकल के कूपर्सहिलवाले बड़े-बड़े इञ्जिनियर भी आश्चर्य्य के महासमुद्र में ग़ोता लगा जाते हैं।

डाक्टर फरगुसन का मत है कि बौद्ध लोगों की प्राचीन इमारतें पाँच भागों में बाँटी जा सकती हैं। यथा—

(१) पत्थर के विशाल खम्भे, या लाटें, जिन पर लेख खोदे जाते थे।

(२) स्तूप—जो गौतम बुद्ध की किसी अवशिष्ट वस्तु को रक्षित रखने या किसी पवित्र घटना या स्थान का स्मरण दिलाने के लिए बनाये जाते थे।

(३) रेल्स अर्थात् पत्थर के एक प्रकार के घेरे जो स्तूपों के चारों ओर बनाये जाते थे और जिन पर बहुत बारीक नक़्क़ाशी का काम रहता था।

(४) चैत्य अर्थात् प्रार्थना-मन्दिर।

(५) विहार अर्थात् बौद्ध-संन्यासियों के रहने के स्थान।

स्तूपों का सबसे बड़ा और प्रसिद्ध समुदाय भिलसा के पास है। यह शहर सेंधिया के राज्य में है। कानपुर से जो रेल बम्बई को जाती है वह भिलसा में ठहरती है। वहाँ स्टेशन है। भिलसा बहुत पुराना शहर है। वह बेतवा नदी के तट पर बसा हुआ है। उसका प्राचीन नाम विदिशा है। उसके आस-पास अनेक स्तूप हैं। वे सब "भिलसा स्तूपों" के नाम से प्रसिद्ध हैं। पर साँची के स्तूप भूपाल की बेगम साहबा की रियासत में हैं। साँची भी रेल का स्टेशन है।

वह भिलसा से पाँच मील आगे है। स्तूपों ही के कारण वहाँ यह स्टेशन बना है। स्टेशन के पास बेगम साहबा ने, दर्शकों के सुभीते के लिए, एक डाक बँगला भी बनवा दिया है। सभ्य संसार को भिलसा के स्तूपों की सूचना, इस ज़माने में, सबसे पहले कनिंहाम साहब ने दी; फिर फरगुसन साहब ने। १८५४ ईसवी में कनिंहाम साहब ने "भिलसा टोप्स" नाम की एक किताब लिखी। उसमें इन स्तूपों का विस्तृत वर्णन है और इनके और इनके अवयवों के सैकड़ों चित्र भी हैं। इसके अनन्तर डाक्टर फरगुसन ने एक किताब लिखी। उसका नाम है "वृत्त और सर्पपूजा" (Trees and Serpent Worship)। इस किताब के आधे हिस्से में इन स्तूपों का ख़ूब पतेवार वर्णन है और साथ ही कोई ५० से भी अधिक चित्र भी हैं। इन्हीं किताबों की बदौलत सभ्य-संसार ने इन स्तूपों को जाना; इनकी कारीगरी कुछ-कुछ उसकी समझ में आई; भारत के प्राचीन वैभव का कुछ अनुमान उसको हुआ। तब से योरप और अमेरिकावाले तक इन स्तूपों को देखने आते हैं।

जिन लोगों ने दुनिया भर की सैर की है उनका मत है कि मिश्र के पिरामिडों (स्तूपों) को छोड़कर संसार में ऐसी कोई इमारत नहीं जिसे देखकर उतना आश्चर्य, आतङ्क और पूज्यभाव हृदय में उत्पन्न होता है जितना कि भिलसा के स्तूपों को देखकर होता है। मूर्त्तिभञ्जक मुसल्मानों ने इन स्तूपों पर भी हथौड़ा चलाया है और इनकी अनन्त मूर्त्तियों

को छिन्न-भिन्न कर डाला है। तथापि अभी इनका कुछ अंश शेष है जिससे भारतवर्ष की प्राचीन कारीगरी का कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है। ये स्तूप अपने समय में इतने प्रसिद्ध थे कि सुदूरवर्ती चीन देश से भी बौद्ध परिव्राजक यहाँ आते थे। परन्तु बली काल ने इनको नष्टप्राय कर दिया है। ये, इस समय, घने जङ्गल के बीच में आ गये हैं और जङ्गली जीवों ने इनको अपना घर बना लिया है।

भिलसा के बौद्ध-स्तूप पूर्व-पश्चिम १७ मील और उत्तर-दक्षिण ६ मील तक की ज़मीन पर फैले हुए हैं। सब मिलाकर वे ६५ हैं। उनकी तफ़सील इस तरह है—

१० साँची में। ८ सोनारी में। ७ सतधारा में। ३ अोधर में। ३७ भोजपुर में।

ये स्तूप प्रायः अशोक के समय के अर्थात् ईसा से ३०० वर्ष पहले के हैं। परन्तु साँची और सतधारा के स्तूप इनसे भी पुराने हैं। वे ईसा से कुछ कम ६०० वर्ष पहले के मालूम होते हैं। अर्थात् उनको बने कोई ढाई हज़ार वर्ष हुए।

भूपाल से साँची २६ मील है। वहाँ से कुछ दूर पर विश्वनगर किंवा वेशनगर नामक एक प्राचीन शहर के चिह्न हैं। इस शहर का दूसरा नाम चैत्यगिरि था। बौद्धों के चैत्य नामक प्रार्थना-मन्दिरों की अधिकता के कारण इसका नाम चैत्यगिरि हो गया था। इसके आस-पास अनेक मन्दिर, चैत्य और स्तूप भग्नावस्था में पड़े हैं। इससे सूचित होता है

कि मालवा का यह प्रान्त किसी समय बहुत ही अच्छी दशा में था। यहाँ पर, कहीं-कहीं, पहाड़ियों के बीच के दर्रों में, पानी इकट्ठा करने के इरादे से, प्राचीन समय में जो बांध बाँधे गये थे, वे अब तक विद्यमान हैं। जान पड़ता है, पुराने बौद्ध-भिक्षु परमार्थ-चिन्तक भी थे और किसानी का भी काम करते थे।

साँची के सबसे प्रधान स्तूप के दक्षिण तरफ़ जो खम्भा है उस पर, प्राचीन पाली भाषा में, "शान्ति-सङ्कम" खुदा हुआ है। इसे कोई-कोई "सन्तसङ्कम" अथवा "सन्तो-सङ्कम" भी पढ़ते हैं। साँची इसी शान्ति अथवा सन्त शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। बौद्ध साधु विहारों ही में रहते थे; स्तूपों में नहीं। इससे "सन्त-सङ्कम" पाठ ठीक नहीं मालूम होता। "शान्ति-सङ्कम" ही अधिक युक्तियुक्त बोध होता है। हमने साँची के स्तूप प्रत्यक्ष देखे हैं; कई बार देखे हैं। पहली दफे़ जब हम उन्हें देखने गये तब उनके प्राचीन वैभव का विचार करके और उनकी इस समय की भग्नावस्था को देखकर हमारी आँखों में आँसू भर आये। जिस पहाड़ी पर साँची है वह औरों से अलग है। वह वहाँ पर अकेली ही है। वह विन्ध्याचल की पर्वतमाला का एक टुकड़ा है। उसका ऊपरी भाग समतल है और कहीं-कहीं पर सघन वृक्षों से आवृत है। साँची के स्तूप इस पहाड़ी के उत्तर-दक्षिण हैं। पहाड़ी का यह भाग बेतवा नदी के बाँये किनारे से थोड़ी ही दूर पर है। इस पहाड़ी पर खँड़हर ही खँड़हर

देख पड़ते हैं। इन खँड़हरों में १० स्तूप, एक चैत्य, गुप्तवंशी राजाओं के ज़माने का बना हुआ एक मन्दिर और एक विहार—इतनी इमारतों के भग्नावशिष्ट हैं। अशोक के ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों के भी कुछ अंश यहाँ पर पड़े हैं। इन पर अशोक की घोषणा के कोई-कोई अक्षर अब तक देख पड़ते हैं। चीन के परिव्राजक यात्री फ़ाह्यान ने साँची का नाम "शा-ची" लिखा है। उसका कथन है कि जब वह इस देश में आया तब साँची एक बहुत बड़ा राज्य था। वह कहता है कि साँची वह जगह है जहाँ पर गौतम बुद्ध ने पवित्र पीतपर्णा के पेड़ को लगाया था। यह पेड़ हमेशा सात फ़ुट ऊँचा बना रहता था और यदि काट भी डाला जाता था तो फिर बढ़ जाता था।

पानी में उठनेवाले बुलबुलों की तरह मनुष्य-जीवन नश्वर समझा गया है। जीवन की नश्वरता का स्मरण दिलाने के लिए बौद्धों ने जितने स्तूप बनाये हैं, सब बुलबुलों की शकल के बनाये हैं। साँची का सबसे बड़ा स्तूप भी उसी शकल का है। वह साँची की पहाड़ी के पश्चिम है। उसके भीतर रक्खी गई कोई भी स्मारक वस्तु आज तक नहीं पाई गई। इससे अनुमान होता है कि यह स्तूप आदि बुद्ध की यादगार में बनाया गया है। इसके चारों दरवाज़ों पर बुद्ध की चार मूर्त्तियाँ हैं। इससे यह बात और भी अधिक दृढ़ता से अनुमान की जाती है। नेपाल में यह नियम है कि इस प्रकार के स्तूपों के दरवाज़े पर बुद्ध की मूर्त्तियाँ अवश्य रक्खी जाती

हैं। साँची के इस सबसे बड़े स्तूप के भिन्न-भिन्न भागों का काल इस प्रकार अनुमान किया गया है—

स्तूप—ईसा के ३०० से ६०० वर्ष पहले। स्तूप के चारों तरफ़ का रेलिङ्ग—यानी घेरा—ईसा के २५० वर्ष पहले।

फाटक—१६ से ३७ वर्ष ईसा के पीछे। स्तूप की शकल कुछ-कुछ अण्डाकार है। उसका सबसे निचला भाग १२५ × ११८ फ़ुट है। इस समय ज़मीन से वह ५५ फ़ुट ऊँचा है। स्तूप के घेरे (रेलिङ्ग) की उँचाई १० फुट से कुछ अधिक है। स्तूप के चारों तरफ़, ३३ फ़ुट ऊँचे, चार फाटक हैं। इस घेरे का गर्भसूत १४० फुट है। घेरे में दो-दो फुट के फ़ासले पर आठ-आठ फ़ुट ऊँचे अठकोने खम्भे हैं। ये खम्भे, ऊपर, एक दूसरे से जोड़ दिये गये हैं। घेरे के रेलों और खम्भों पर सङ्गतराशी की कारीगरी की पराकाष्ठा कर दी गई है। यही हाल फाटकों के ऊपर बने हुए तोरणों का है। शिलपकला-विशारद कई विद्वानों का मत है कि इस नमूने का ऐसा अच्छा काम हिन्दुस्तान में और कहीं नहीं। वे कहते हैं—

"The gateways are covered with elaborate sculptures, quite unequalled by any other examples known to exist in India."

स्तूप का मध्य भाग बिलकुल ठोस है। वह ईंट और गारे से बना हुआ है। परन्तु बाहरी भाग में पत्थर जड़े हुए हैं। उन पर ४ इञ्च मोटा चूने का पलस्तर था; पर वह प्रायः

उखड़ गया है। पलस्तर पर रङ्गीन चित्रों की एक अनुपम चित्रावली ज़रूर रही होगी; यह लोगों का अनुमान है। घेरे में जो पत्थर के लम्बे-लम्बे टुकड़े (रेल) हैं उन पर उनके बनवानेवालों के नाम खुदे हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि स्तूप के चारों ओर जो घेरा है वह पीछे से, क्रम-क्रम से, बना है। इस घेरे के बन जाने पर फाटक और फाटकों पर तोरण बने हैं। स्तूप के दक्षिणी और पश्चिमी तोरण गिर पड़े थे। १८८२–८३ ईसवी में अँगरेज़ी गवर्नमेंट ने उनकी मरम्मत करा दी; उत्तरी और पूर्वी फाटकों की फिर से जुड़ाई कराकर मज़बूत करा दिया; और स्तूप के चारों तरफ़ जो घेरा है उसकी भी मरम्मत कराकर जहाँ-जहाँ पर वह टेढ़ा हो गया था वहाँ-वहाँ पर उसे सीधा करा दिया। घेरे, फ़ाटकों और तोरणों में जितनी मूर्तियाँ थीं सबको साफ़ करा दिया। फाटकों के ऊपर जो तोरण हैं उन पर, आगे और पीछे दोनों तरफ़, बहुत ही अच्छा काम था। एक चावल भर भी जगह ऐसी न थी जहाँ कोई कारीगरी का काम न हो। इन तोरणों पर गौतम बुद्ध का जीवनचरित चित्रित था। उनके जीवन की जितनी मुख्य-मुख्य घटनायें थीं वे सब पत्थर पर खोदकर, मूर्तियों के रूप में, दिखलाई गई थीं। अब भी इस चित्रात्मक चरित का बहुत कुछ अंश देखने को मिलता है। इसके सिवा बौद्धों के जातक नामक ग्रन्थों में बुद्ध के पहले ५०० जन्मों से सम्बन्ध रखनेवाली जो गाथायें हैं उनका भी दृश्य इन तोरणों

पर खचित था। इन तोरणों को तोरण न कहना चाहिए। इनको बौद्ध धर्म्म की पौराणिक और ऐतिहासिक बातों की सजीव तसवीर कहना चाहिए।

कई जगहों पर बुद्ध की माता मायादेवी की मूर्तियाँ हैं। वे कमल पर बैठी हैं। ऊपर छत्र है; दाहने हाथ में नाल-सहित कमल का एक फूल है; दोनों तरफ़ दो हाथी हैं जो घड़ों से उन पर जल का अभिषेक कर रहे हैं। मायादेवी का स्वप्न देखना, राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) के गर्भ में आने का समाचार सुनकर उनके पास सेवकों और कुटुम्बियों का इकट्ठा हो जाना, उन पर चमर करते हुए उनसे स्वप्न का हाल पूछना इत्यादि पूर्वी तोरण के भीतरी ओर खचित है। ईसा के ६२३ वर्ष पहले लुम्बिनी नामक बाग़ में गौतम का पैदा होना और यशोधरा को पाने की इच्छा से, १६ वर्ष की उम्र में, धनुर्विद्या के अद्भुत-अद्भुत कौतुक दिखलाना पश्चिमी तोरण के दाहिनी तरफ़वाले खम्भे पर अङ्कित है। २९ वर्ष की उम्र तक गौतम ने ख़ूब विषयोपभोग किया। उनकी इस समय की शृङ्गारिक दिनचर्य्याओं के चित्र उत्तरी फाटक के बायें खम्भे पर खुदे हुए हैं। नर्तकी स्त्रियों के नृत्य और हाव-भाव आदि के चित्र भी पूर्वी फाटक के तोरण में हैं। वृद्ध, बीमार, मृतक और साधु इन चारों को चार-चार महीने के अनन्तर देखकर गौतम को विराग पैदा हुआ था। उनके विराग के ये चिह्न भी पूर्वी और उत्तरी फाटकों पर हैं। इसी तरह स्त्री-पुत्र से

बिदा होना, तपस्या करना, बोधिवृक्ष के नीचे बोधिसत्वता को पाना, उपदेश करना और अन्त में निर्वाण को पहुँचना—इत्यादि शाक्य मुनि के जीवन की सारी घटनायें बड़े ही कौशल से मूर्तियों के रूप में दिखलाई गई हैं।

कहीं-कहीं पर वृक्षों की, पशुओं की और स्वयं स्तूपों की पूजा की जाने के भी चित्र इस स्तूप में हैं। रामग्राम नामक नगर में एक स्तूप है। उसकी मूर्ति यहाँ बनी हुई है। उसे हाथी, अपनी सूँड़ में पानी ला-लाकर, साफ़ कर रहे हैं और झाड़ू से उस पर की ख़ाक झाड़ रहे हैं। बरगद का एक वृक्ष है। वह एक मन्दिर से घिरा हुआ है। उसकी दाहिनी ओर, पूजा के लिए अपने सेवक-समूह के साथ एक राजा बैठा है। बाईं ओर दैत्य हैं; घोड़े और हाथियों पर सवार राजा के सैनिक उनको कुचलते हुए चले जाते हैं। यह बड़ा ही विलक्षण दृश्य है। सैकड़ों मूर्तियाँ आकाश की तरफ़ हाथ उठाये प्रार्थना कर रही हैं; मनुष्य का जैसा सिर लगाये भेड़ और शेर इधर-उधर झाँक रहे हैं; शाक्य मुनि का चिह्न, चक्र, ठौर-ठौर पर, अपने बनानेवालों के शिल्पकौशल की प्रशंसा सी कर रहा है। हिरनों के झुण्ड के झुण्ड भागते हुए, कहीं-कहीं, दिखाई दे रहे हैं। दक्षिणी तोरण के ऊपर एक शहर के घेरे जाने का दृश्य बड़ा ही मजेदार है। यह धर्म्मयुद्ध का एक दृश्य है। गौतम बुद्ध की कुछ अवशिष्ट चीज़ें छीनना है। इसी लिए यह युद्ध छिड़ा है और शहर को घेरना पड़ा

है। जो लोग घिरे हैं वे घेरनेवालों पर भीतर से तीरों और पत्थरों की वर्षा कर रहे हैं। घेरनेवालों के पास धनुर्बाण और ढालें हैं। उन्हीं से वे अपना बचाव भी करते हैं और शत्रुओं पर शर-वर्षा भी करते हैं। जिस चीज़ के लिए युद्ध हो रहा है वह एक सन्दूक़ के भीतर है; उसे एक हाथी अपने मस्तक पर लिये जा रहा है। उसके पीछे एक राजा है; वह रथ पर सवार है। साथ ही कई आदमी, हाथियों पर, आरूढ़ हैं और कई पताकाधारी भी हैं। फाटकों पर स्त्रियों की जो मूर्तियाँ हैं वे सब नग्न हैं। उनकी कमर में माला के आकार की सिर्फ़ एक तागड़ी भर है। उनके केश-कलाप एक अजीब तरह से गुथे हुए हैं; वे पीठ पर लटक रहे हैं। कान में कुण्डल हैं; गले में हार है; और कलाई में कड़े या चूड़ियाँ हैं। भुजाओं पर भी वे कोई चीज़ पहने हुए हैं। पुरुषों की कमर के नीचे का भाग ढका हुआ है। वे पगड़ी भी पहने हैं; किसी-किसी की पगड़ी आभूषणों से भूषित है। एक जगह पर एक स्तूप की पूजा हो रही है। पूजक विदेशी जान पड़ते हैं। वेष से जान पड़ता है कि वे हिमालय के पार्श्ववर्ती प्रदेश के हैं।

शस्त्रों के भी चित्र हैं। धनुर्बाण, भाला, तलवार, परशु और ढाल के सैकड़ों प्रतिरूप हैं। कहीं-कहीं पर रथ भी हैं; उनको बराबर-बराबर चार घोड़े खींच रहे हैं। एक-आध जगह एक-एक दो-दो जोड़े भी घोड़ों के जुते हैं। घोड़ों का

साज-सामान दुरुस्त है। दुन्दुभी, भेरी, मृदङ्ग और वीणा के भी चित्र हैं। चारपाइयाँ हैं; ख़ूबसूरत तिपाइयाँ हैं; बड़ी-बड़ी नावें हैं। स्त्रियाँ पानी भर रही हैं; अनाज साफ़ कर रही हैं; और रोटी बना रही हैं।

यह सबसे बड़े स्तूप की बात हुई। जो स्तूप इससे छोटा है उसका व्यास ३९ फ़ुट है। उसमें भी चार फाटक हैं और चारों तरफ़ घेरा बना हुआ है। घेरे की उँचाई ७॥ फ़ुट है। उसके भी खम्भों पर फूलों, पत्तियों और जानवरों इत्यादि के बड़े ही सुन्दर चित्र खचित हैं। दरवाज़े पर एक स्त्री हाथ में कमल लिये हुए खड़ी है। उसकी बनावट बहुत ही चित्त-बेधक है। यह स्तूप ईसा के कोई २०० वर्ष पहले का है। इस पर जो लेख हैं उनकी लिपि अशोक के समय की लिपि से मिलती है। इसके भीतर अशोक के समय में हुए, बौद्ध धर्म्म के अनुयायी, दस-ग्यारह साधुओं की स्मारक चीज़ें मिली हैं।

तीसरे नम्बर का स्तूप बिलकुल ही बरबाद हालत में पड़ा है। उसका बहुत ही थोड़ा अंश शेष रह गया है। उसकी इमारत ईसा के कोई ५५० वर्ष पहले की जान पड़ती है। उसके भीतर बुद्ध के दो प्रसिद्ध चेलों के स्मारक पदार्थ मिले हैं।

और स्तूप बहुत छोटे हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं; और न उनमें किसी की स्मारक कोई वस्तु ही मिली है।

बड़े स्तूप के दक्षिण-पूर्व गुप्तवंशी राजों के समय का एक छोटा सा मन्दिर है। वह कोई १७०० वर्ष का पुराना है।

जिस नमूने का वह है उस नमूने का सबसे पुराना मन्दिर वही है।

भारतवर्ष की इन पुरातन इमारतों की कारीगरी देखकर यहाँ की पुरानी सभ्यता और शिल्प-कौशल का बहुत कुछ पता मिलता है। इन पर जो लता, पत्र, पशु, पक्षी और नर, नारियों इत्यादि की मूर्तियाँ हैं वे इस बात का प्रमाण हैं कि २५०० वर्ष पहले जब इस दुनिया में, दो एक देशों को छोड़कर, असभ्यता और जङ्गलीपन का पूरा साम्राज्य था तब भारतवर्ष में विद्या, कारीगरी और साधारण सभ्यता किस दरजे को पहुँच गई थी। पर, इस समय, बात बिलकुल उलटी हो गई है। अफ़सोस !

[जून १९०६

२—यलोरा के गुफा-मन्दिर

इस लेख में हम यलोरा की गुफाओं का संक्षिप्त वर्णन लिखते हैं। विस्तृत वर्णन अन्यत्र, और पुस्तकों में, देखना चाहिए। ये गुफायें बहुत बड़ी-बड़ी हैं, और अनेक हैं। अतएव उन सबका सविस्तर वर्णन करने के लिए बहुत स्थान और बहुत समय दरकार है। फिर, गुफाओं के साथ उनके चित्र और उनके भीतर की सैकड़ों मूर्तियों का वर्णन, पूरे तौर से, एक छोटे से लेख में करना, अधिक कठिन काम है। एक बात और भी है। वह यह कि अजण्टा में तो केवल बौद्धों की गुफायें हैं; परन्तु, यलोरा में बौद्ध, जैन और हिन्दू, इन तीनों की, हैं। "भारतवर्ष के गुफा-मन्दिर" (Cave temples of India) नाम की अँगरेज़ी पुस्तक में इन मन्दिरों का वर्णन पढ़ने और उनके चित्रों के दर्शन करने पर, इस देश के प्राचीन कला-कौशल-सम्बन्धी भावों का हृदय में जो उन्मेष होता है वह बड़ा ही आतङ्क-जनक और साथ ही बड़ा ही आह्लादकारक भी है। इन मन्दिरों के विषय में पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अनेक प्रशंसापूर्ण लेख लिखे हैं। हम, यहाँ पर, उन्हीं का सारांश प्रकाशित करते हैं।

जबलपुर से बम्बई को जो रेलवे-लाइन जाती है उसका नाम ग्रेट इंडियन पेनिन्शुला रेलवे है। इस लाइन पर मन्माड़ नाम का एक स्टेशन है। यह स्टेशन बम्बई से १६१

मील, इलाहाबाद से ६८० मील और नागपुर के रास्ते होकर कलकत्ते से १०६० मील है। मन्माड़ से निज़ाम के हैदराबाद को एक दूसरी रेलवे लाइन जाती है। इस लाइन का नाम "हैदराबाद गोदावरी वैली रेलवे" है। इस लाइन पर, मन्माड़ से ७१ मील दूर, औरङ्गज़ेब की याद दिलानेवाला औरङ्गाबाद स्टेशन है। यलोरा के मन्दिरों को देखने के लिए इसी स्टेशन पर उतरना पड़ता है। यहाँ से यलोरा नाम का गाँव १४ मील है। इसे एलापुर, यलुरु और वेरुल भी कहते हैं। यह निज़ाम के राज्य में है। किसी-किसी का मत है कि यलिचपुर के राजा यदु ने यलोरा को आठवें शतक में बसाया था। यहाँ से ये गुफा-मन्दिर कोई ½ मील दूर हैं और बराबर सवा मील तक चले गये हैं।

यलोरा की गुफाओं का उल्लेख, सबसे पहले, अरब के भूगोल-वेत्ता महसूदी ने दशवें शतक में किया। परन्तु उसने उनके शिल्प-सौन्दर्य के विषय में कुछ न कहकर केवल उनको एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान बतलाया। १३०६ ईसवी में, गुजरात की राज-कन्या कमला-देवी इन्हीं गुफाओं में छिपी थी। अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने उसे यहीं से ढूँढ़कर देहली भेजा था। इन गुफाओं में मुसलमानों का प्रथम-प्रवेश इसी समय हुआ जान पड़ता है।

एकान्त-सेवन के लिए, निर्जन पर्वतों के बीच, ऐसी-ऐसी गुफाओं का निर्माण बौद्ध लोगों के समय से आरम्भ

हुआ। वर्षा-ऋतु में बौद्ध भिक्षु इन्हीं गुफाओं में रहकर परमार्थ-चिन्तन करते थे। बौद्धों की देखा-देखी जैनों ने भी रमणीक पार्वतीय स्थानों में गुफा-मन्दिर बनवाये। और कहीं-कहीं बौद्धों और जैनों की स्पर्धा सी करने के लिए हिन्दुओं ने भी वहीं अपने मन्दिर खड़े कर दिये। यलोरा एक ऐसा स्थान है जहाँ इस देश के इन तीनों धर्मों के अनुयायियों द्वारा निर्म्माण किये गये, भिन्न-भिन्न तीन प्रकार के, गुफा-मन्दिर एक दूसरे के बाद, पास ही पास, बने हुए हैं। भारतवर्ष में यलोरा किसी समय प्रख्यात तीर्थ गिना जाता था; और अपने-अपने समय में दूर-दूर से आये हुए, लाखों बौद्ध, जैन और हिन्दू यात्री यहाँ इकट्ठे होते थे। वह समय यद्यपि अब नहीं रहा; परन्तु यलोरा की गुफायें और मन्दिर अभी तक बने हुए हैं और अपने प्राचीन वैभव की गवाही दे रहे हैं। इन मन्दिरों में जो नाना प्रकार के चित्र और मूर्तियाँ हैं, उनको देखकर उस समय की सामाजिक अवस्था का पता भली भाँति लगता है। उस समय के जीव-जन्तु, उस समय के वस्त्रा-लङ्कार, उस समय के अस्त्र-शस्त्र और उस समय के आमोद-प्रमोद की प्रणाली के भी ये चित्र सच्चे सूचक हैं। धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली बातों के तो ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यलोरा की गुफायें एक ढालू पहाड़ी के बाहरी भाग को काटकर उसके भीतर बनाई गई हैं और उत्तर-दक्षिण कोई मील सवा मील तक चली गई हैं। जहाँ पर ये बनी हुई हैं

वहाँ की पर्वत-श्रेणी के ढालू होने, और मैदान की ओरवाले भाग के भीतर उनके बनाये जाने, के कारण इन गुफाओं में प्रायः सभी के सामने सहन हैं। इन गुफाओं के भीतर बने हुए मन्दिरों के कारुकर्म्म को देखकर बड़े-बड़े यञ्जिनियर और बड़े-बड़े शिल्प-निपुण कारीगरों की बुद्धि चक्कर खाने लगती है। इनके रङ्गीन चित्र, रङ्गीन बेल-बूटे, भाव-भरी मूर्तियाँ और भाँति-भाँति की जालियाँ देखकर देखनेवालों की चित्तवृत्ति स्थगित और स्तम्भित हो जाती है। मूर्तिद्रोही, अन्य धर्मावलम्बी, अन्य देशवासी लोगों के भी मुख से इन मन्दिरों की स्तुति सुनकर हृदय में एक अपूर्व भक्ति-भाव का उदय हो उठता है। फर्गुसन, बर्ज्येस और बाड्रिलर्ट ने तो इनके स्तुतिपाठ से भरी हुई पुस्तकें लिख डाली हैं। एक साहब लिखते हैं कि "यलोरा के ये प्राचीन मन्दिर, इस समय, दैवात् उजाड़ अवस्था में पड़े रहने पर भी मनुष्य की कल्पना को व्याकुल कर देते हैं। वह यही नहीं स्थिर कर सकती कि किस प्रकार ये मन्दिर मनुष्य से बनाये गये होंगे। इन मन्दिरों के सामने खड़े होकर यदि कोई कुछ लिखना चाहे तो क़लम पकड़ने के लिए हाथ ही नहीं उठता। इन विस्मयोत्पादक और भव्य मन्दिरों को देखने से प्राचीन भारतवासियों के शिल्पकौशल और धर्म्म-प्रवणता का मूर्तिमान् चित्र नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। महा मनोहारिणी चित्रकारी और शिल्प कर्म्म के सूक्ष्म से

सूक्ष्म अनन्त भेदों ने इन मन्दिरों की भव्यता को बहुत ही अधिक बढ़ा दिया है"।

जिस समय हिन्दूधर्म्म की सबसे अधिक उन्नति इस देश में थी उस समय के बने हुए विशाल हिन्दू-मन्दिरों ने यलोरा की गुफाओं को और भी विशेष प्रधानता प्रदान की है। इन मन्दिरों में, मूर्तियों और चित्रों के द्वारा, अनेक पौराणिक प्रकरण प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। यहाँ, कैलास नामक जो मन्दिर है वह अद्वितीय है। पहाड़ काटकर जितने मन्दिर इस देश में बनाये गये हैं, कोई इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यलोरा में यदि अकेला एक यही मन्दिर होता तो भी यह स्थान उतनी ही प्रसिद्धि प्राप्त करता जितनी प्रसिद्धि कि इसने और अनेक मन्दिरों के होते हुए प्राप्त की है।

यलोरा में दक्षिण से उत्तर तक सब ३४ गुफायें और मन्दिर हैं। बौद्धों के गुफा-मन्दिर दक्षिण में हैं। उनकी संख्या १२ है। जैनों के उत्तर में हैं। उनकी संख्या ५ है। और, हिन्दुओं के मन्दिर बीच में हैं। उनकी संख्या सबसे अधिक, अर्थात् १७, है। इन मन्दिरों में, प्रत्येक समूह के, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मन्दिर का संक्षिप्त विवरण, यथाक्रम, यहाँ पर, दिया जाता है।

बौद्धों के गुफा-मन्दिरों का नाम, १ से ४ तक का ढेड़-वाड़ा है और ५ से ९ तक का महारवाड़ा। दसवें का नाम विश्वकर्म्मा अथवा सुतार का झोंपड़ा; ग्यारहवें का दोन-थाल

और बारहवें का तीन-थाल है। १ से लेकर ९ पर्य्यन्त की गुफाओं में, ढेड़ और महार शब्द मराठी-भाषा में नीच जाति के सूचक हैं। ये नाम पीछे से वहाँ के रहनेवालों ने रख लिये हैं। ये मन्दिर ६५० ईसवी के पहले के बने हुए हैं। इनमें से कुछ इससे भी पुराने हैं। वे ४५० ईसवी के लगभग बने हुए जान पड़ते हैं। ढेड़वाड़ा नाम का मन्दिरसमूह सबसे अधिक पुराना है; और विश्वकर्म्मा सबसे अधिक विशाल और अवलोकनीय है। दोन-थाल का अर्थ दो खण्ड और तीन-थाल का अर्थ तीन खण्ड (का मन्दिर) है।

ये गुफा-मन्दिर पर्वत काटकर उसी की पार्वतीय चट्टानों में, भीतर ही भीतर, गढ़े गये हैं। इनको बनाने में बाहर से ईंट, पत्थर लाकर नहीं लगाया गया। पहाड़ों में से एक छोटी सी पटिया काटकर निकालने में कितना भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है; फिर उसको काटकर उसके भीतर मन्दिर खड़ा कर देना कितने कौशल, कितने यत्न और कितने श्रम का काम है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

१ से लेकर ९ नम्बर तक के बौद्ध मन्दिरों में अनेक मनोहर-मनोहर मूर्त्तियाँ हैं। कहीं अवलोकितेश्वर बुद्ध की प्रतिमा है, कहीं पद्मपाणि की, कहीं अक्षोभ्य की, और कहीं अमिताभ की। तारा, सरस्वती और मञ्जुश्री आदि शक्तियों की मूर्त्तियाँ भी ठौर-ठौर पर हैं; उनकी सेवा विद्याधर कर रहे हैं। इन मूर्त्तियों की बनावट इतनी अच्छी और इतनी निर्दोष है कि

किसी-किसी को, इस समय भी, इन्हें देखकर इनके सजीव होने की शङ्का होती है। एक हाथ में माला, दूसरे में कमल-पुष्प, कन्धे में मृग-चर्म लिये हुए अभय और धर्म्म-चक्र-मुद्रा में ध्यानस्थ बुद्ध की मूर्त्तियों को देखकर मन में अपूर्व श्रद्धा और भक्ति का उन्मेष होता है।

बैाद्धों के गुफा-मन्दिरों में विश्वकर्म्मा सबसे अधिक प्रसिद्ध और विशाल स्तूप है। यह बौद्धों का चैत्य है। इसके आगे खुला हुआ सहन है और चारों ओर बरामदे हैं। मन्दिर का भीतरी भाग ८५ फ़ुट १० इञ्च लम्बा और ४३ फ़ुट २ इञ्च चौड़ा है। इसमें जो खम्भे हैं वे १४ फ़ुट ऊँचे हैं; उनके नीचे बहुत ही अच्छा काम किया हुआ है। इस मन्दिर में बौद्ध साम्प्रदायिक मूर्त्तियों की बहुत अधिकता है। अनेक धार्म्मिक विषय, मूर्त्तियों द्वारा, दिखलाये गये हैं। मूर्त्तियों के वस्त्र और आभूषण आदि देखकर उस समय की सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ ज्ञान होता है। यहाँ पर बौनों की कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ हैं जिनको देखकर मन में बड़ा कुतूहल उत्पन्न होता है। इन मूर्त्तियों का ऊपरी भाग बहुत ही स्थूल है। ये खर्वाकार मनुष्य बुद्ध की सेवा में तत्पर हैं। वज्रपाणि आदि अनेक बोधिसत्वों की भी मूर्त्तियाँ इस चैत्य में हैं।

दोन-थाल में पहले दो ही खण्ड थे। इसलिए उसका नाम दोन-थाल पड़ा। परन्तु उसका एक खण्ड नीचे ज़मीन में दब गया था। वह १८७६ ईसवी में खोदकर बाहर निकाला

गया। अतएव अब इसे भी तीन-थाल कहना चाहिए; क्योंकि तीन-थाल के जैसे इसमें भी तीन खण्ड हैं। दोन-थाल और तीन-थाल मन्दिर, भव्यता में, यद्यपि विश्वकर्म्मा मन्दिर की बराबरी नहीं कर सकते; परन्तु लम्बाई-चौड़ाई में वे विश्व-कर्म्मा से बड़े हैं। इनका कोई-कोई दीवानख़ाना ११८ फ़ुट तक लम्बा है। इनमें अनेक छोटे-छोटे कमरे हैं। इनके प्रकाण्ड खम्भों को देखकर बुद्धि काम नहीं करती। वे बड़ी ही सुघराई से काटे गये हैं। वे चौकोर हैं और उन पर बड़ी कारीगरी की गई है। उग्रा, रत्ना, विश्वा, व्रजधातेश्वरी, लक्ष्मी और सरस्वती आदि की मूर्तियाँ ठौर-ठौर पर बनी हुई हैं। बुद्ध और बोधिसत्व भी प्रायः प्रत्येक कमरे में विराजमान हैं। इनमें से कोई भूमि-स्पर्श-मुद्रा में हैं, कोई ललितासन-मुद्रा में, कोई पद्मासन-मुद्रा में और कोई ज्ञान-मुद्रा में। अनेक विद्या-धर और अनेक देवी-देवता, इन मन्दिरों में बने हुए दिखलाई देते हैं। इस समय पत्थर का एक पुतला बनवाने के लिए हम लोगों को विलायत की शरण जाना पड़ता है। इस बात का विचार करके और डेढ़ हज़ार वर्ष के पुराने इन मन्दिरों की महामनोहर मूर्तियों को देखकर प्राचीन कारीगरों के शिल्प-कौशल की सहस्र मुख से प्रशंसा करने को जी चाहता है। इन मन्दिरों में किसी-किसी बुद्ध के सामने, और दाहने-बायें, स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं। ये स्त्रियाँ प्रायः पद्मासन-मुद्रा में बैठी हैं; किसी-किसी के हाथ में माला और फूल है।

यलोरा में जैन मन्दिरों का समुदाय उत्तर की ओर है। उसमें कुल ५ मन्दिर हैं। वे पूरे नहीं बनने पाये; असम्पूर्ण ही स्थिति में छोड़ दिये गये हैं। परन्तु दो मन्दिर बहुत बड़े हैं। एक मन्दिर का नाम छोटा कैलाश है। छोटा उसे इसलिए कहते हैं, क्योंकि हिन्दुओं के मन्दिर-समूह में कैलाश नाम का एक बहुत बड़ा मन्दिर है। जैनों के और मन्दिरों के विषय में अधिक न कहकर, इन्द्र-सभा और जगन्नाथ-सभा नाम के जो दो प्रसिद्ध मन्दिर हैं उन्हीं के विषय में हम दो-चार बातें, यहाँ पर, कहना चाहते हैं।

हिन्दुओं के कैलाश (जिसका उल्लेख आगे आवेगा) और बौद्धों के विश्वकर्मा मन्दिर को छोड़कर, जैनों के इन्द्र-सभा-मन्दिर की समता यलोरा का और कोई मन्दिर नहीं कर सकता। यह मन्दिर बौद्धों और हिन्दुओं के मन्दिरसमूह के पीछे बना है। मध्य भारत में राष्ट्रकूट-वंशीय राजों का राज्य नवें शतक में बहुत ही निर्बल हो गया था। उस समय यलोरा के आस-पास का देश जैनों ने अपने अधिकार में कर लिया था। जान पड़ता है, उन्होंने बौद्धों और हिन्दुओं की देखा-देखी अपने प्रभुत्व और शासन की यादगार में ये मन्दिर बनवाये हैं। इन्द्र-सभा में कई बरामदे, कई प्राङ्गण और कई देवगृह हैं। उसकी छत की चित्र-विचित्र बनावट, उसके खम्भों की तराश और उन पर का काम, और उसकी मूर्तियों की सुन्दरता अपूर्व है। कहीं महावीर की मूर्ति है; उसके

दोनों ओर दो चामरधारिणी दासियाँ खड़ी हैं; सिर पर मनोहर छत्र है; पीछे की ओर पत्तों का स्तबक है। कहीं पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है; उस पर स्त्रियाँ छत्र धारण किये हुए हैं; सर्पराज सिर के ऊपर अपना फण फैलाये हैं; पैरों को नाग-कन्यायें स्पर्श कर रही हैं; चारों ओर दैत्यों का समुदाय तपोभङ्ग करने के प्रयत्न में है। कहीं इन्द्र, ऐरावत पर, आसन लगाये हैं; इन्द्राणी सिंह पर सवार हैं; दास-दासियाँ उनकी सेवा में निमग्न हैं। जगह-जगह पर जिन-तीर्थङ्कर अपने-अपने शासन-देवों और देवियों के सहित मन्दिर की शोभा बढ़ा रहे हैं। नेमिनाथ, गोमटेश्वर और महावीर की अनेक मूर्तियाँ हैं; जितनी हैं सब अवलोकनीय हैं; और प्रायः अच्छी दशा में हैं। शची (इन्द्राणी), अम्बिका और सरस्वती की भी कितनी ही चित्तग्राहिणी प्रतिमायें हैं। दिगम्बर-जैनों के परम-श्रद्धाभाजन गोमटेश्वर के पूरे आकार के कई दिग्वस्त्रधारी स्वरूप हैं। इन मूर्तियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग सब ऐसे अच्छे हैं कि आजकल के कुशल से भी कुशल कारीगर उनमें कोई दोष नहीं दिखला सकते। मूर्तियों के पास, कहीं-कहीं, उनके वाहन—सिंह, गज, हरिण और कुत्ते—भी हैं। किसी-किसी तीर्थङ्कर पर पुष्पवर्षा हो रही है और गन्धर्व अपने गान से उन्हें प्रसन्न कर रहे हैं। इस मन्दिर के जितने दृश्य हैं सब मनोहर हैं; और उनके निर्माण करनेवालों की शिल्पकुशलता के स्वरूपवान् प्रमाण हैं।

जैनों का दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर जगन्नाथ-सभा नामक है। वह इन्द्र-सभा से मिला हुआ है; परन्तु उससे छोटा है। उसकी कुछ मूर्तियाँ छिन्न-भिन्न भी हो गई हैं। इससे उसकी शोभा में क्षीणता आ गई है। उसकी बनावट, भीतर और बाहर, इन्द्र-सभा से प्रायः मिलती-जुलती है। उसका शिल्पकार्य और उसकी मूर्तियाँ भी बहुत करके इन्द्र-सभा से मिलती हैं। अतएव उसके विषय में विशेष रूप से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

यलोरा में हिन्दू-मन्दिरों की संख्या औरों की अपेक्षा अधिक है। जैसा, पहले, एक जगह कहा गया है—वे सब १७ हैं। वे बौद्ध और जैन-मन्दिरों के बीच में हैं। उनमें से ये मुख्य हैं, यथा—

१ रावण की खाई
२ देववाड़ा
३ दशावतार
४ कैलास अथवा रङ्ग-महल
५ लङ्केश्वर
६ रामेश्वर
७ नीलकण्ठ
८ धुमारलेन अथवा सीता की चावड़ी

रावण की खाई में अनेक मूर्तियाँ हैं।

दशावतार में विष्णु के दस अवतारों की मूर्तियों के सिवा शिव की भी कितनी ही मूर्तियाँ हैं। अतएव यह गुफा-मन्दिर शैव और वैष्णव, दोनों प्रकार के, मन्दिरों का मिश्रण है। इसका मण्डप ३१ फुट चौड़ा, २६ फुट गहरा और १०½ फुट ऊँचा है। इसमें एक खण्डित शिलालेख है। इस लेख में

राष्ट्रकूट-वंशीय ६ राजों के नाम पाये जाते हैं। राष्ट्रकूटों ने ६०० से लेकर १००० ईसवी तक दक्षिण में राज्य किया। इस लेख में जिन नरेशों के नाम हैं वे ये हैं—

१ दान्तिवर्म्मा	(६००—६३० ई०)
२ इन्द्रराज, प्रथम	(६३०—६५० ई०)
३ गोविन्दराज, प्रथम	(६५०—६७५ ई०)
४ कर्कराज, प्रथम	(६७५—७०० ई०)
५ इन्द्रराज, द्वितीय	(७००—७३० ई०)
६ दान्तिदुर्ग	(७५३ ई०)

इस लेख में कई श्लोक पूरे हैं, और भली भाँति पढ़े जा सकते हैं। इन्द्रराज की प्रशंसा में एक श्लोक यह है—

विकासि यस्य क्षणदास्वविक्षतं शशाङ्कधामव्यपदेशकारि।
करोति सम्प्रत्यपि निर्मलं जगत् प्रसन्नदिङ्मण्डलमण्डनं यशः॥

यह बहुत ललित और कोमलावृत्ति-वलित पद्य है। इन्द्रराज के पुत्र गोविन्दराज के वर्णन में एक श्लोक यह है—

दुर्वारोदारचक्रः पृथुतरकटकः क्ष्माभृदुन्मूलनेन
ख्यातः शङ्खाङ्कपाणिर्बलिविजयमहाविक्रमावाप्तलक्ष्मीः।
क्षोणीभारावतारी विषममहिपतेस्तस्य सूनुर्नृपोऽभूत्
मान्यो गोविन्दराजो हरिरिव हरिणाक्षीजनप्रार्थनीयः॥

इन राजों में दान्तिदुर्ग बड़ा प्रतापी हुआ। उसने अनेक राजों पर विजय पाई। चालुक्य-राज वल्लभ तक को उसने परास्त करके अपना करद बनाया। उसकी प्रशंसा में लिखा है—

दण्डेनैव जिगाय वल्लभबलं यः सिन्धुदेशाधिपं
काञ्चीशं सकलिङ्गकोशलपतिं श्रीशैलदेशेश्वरम् ।
शेषान् मालव-लाट-गुर्ज्जरपतीनन्यांश्च नीत्वा वशं
यः श्रीवल्लभतामवाप चरणं न्यस्य द्विषां मस्तके ॥

अर्थात् सिन्धु, काञ्ची, कलिङ्ग, कोशल, शैल, मालव, लाट, गुर्जर और चालुक्य आदि सब देशाधिपों के मस्तक पर चरण रखकर वह लक्ष्मी का प्यारा हुआ। दान्तिदुर्ग के अनन्तर उसका चचा कृष्णराज नरराज हुआ। इस कृष्णराज का नाम इसी राष्ट्रकूट-वंशीय कर्कराज राजा के दानपत्र में आया है। यह दानपत्र इंडियन ऐंटिक्वेरी की बारहवीं जिल्द में छपा है। वहाँ पर ये तीन श्लोक यलोरा के विषय में हैं—

एलापुराचलगताद्भुतसन्निवेशं
यद्वीक्ष्य विस्मितविमानचरामरेन्द्राः ।
एतत्स्वयम्भु शिवधाम न कृत्रिमे श्री-
र्दृष्टेदृशीति सततं बहु चर्चयन्ति ॥
भूयस्तथाविधकृतौ व्यवसायहानि-
रेतन्मया कथमहो कृतमित्यकस्मात् ।
कर्तापि यस्य खलु विस्मयमाप शिल्पी
तन्नामकीर्तनमकार्यत येन राज्ञा ॥
गङ्गाप्रवाह-हिमदीधिति-कालकूटै-
रत्यद्भुताभरणकैः कृतमण्डनोऽपि ।

माणिक्य-काञ्चनपुरःसरसर्वभूत्या
तत्र स्थितः पुनरभूष्यत येन शम्भुः ॥

भावार्थ—एलापुर के पर्वत पर जो मन्दिर है उसको देख-कर देवों को भी विस्मय होता है। वे उसे स्वयम्भू शिवस्थान समझकर उसकी पूजा करते हैं। क्योंकि कृत्रिम स्थान को ऐसी शोभा कभी नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १ ॥ इस प्रकार का मन्दिर फिर बनाने में व्यवसाय की हानिमात्र है; मैं ख़ुद नहीं जान सकता कि ऐसी अद्भुत इमारत मैंने कैसे बनाई ?—इस प्रकार, जिस मन्दिर के बनानेवाले कारीगर को भी आश्चर्य हुआ उसका नाम-कीर्तन उस (कृष्णराज) राजा ने कराया॥२॥ गङ्गा, चन्द्रमा और कालकूट-रूपी अद्भुत आभूषणों से आभूषित होने पर भी, उस मन्दिर में प्रतिष्ठित शम्भु को उस राजा ने माणिक्य और सुवर्ण आदि के विभूषणों से पुनर्वार विभूषित किया ॥ ३ ॥

यह एलापुर यलोरा ही है। इसके पास एक प्राचीन नगर के चिह्न अब तक पाये जाते हैं। वह पुराना नगर नष्ट हो गया। इस समय का यलोरा ग्राम यद्यपि पुराने नाम का अपभ्रंश है, तथापि वह एलापुर नहीं है।

दशावतार में कोई लेख ऐसा नहीं है जिससे इसका पता लगे कि कब और किसने उसे बनाया। यह मन्दिर आठवीं शताब्दी के आरम्भ का बना हुआ जान पड़ता है, और, सम्भव है, दान्तिदुर्ग ही ने इसे भी निर्माण कराया हो। क्योंकि

उसी के अनन्तर होनेवाले कृष्णराज ने उसमें प्रतिष्ठित शिव-मूर्ति को फिर से अलङ्कृत किया। पूर्वोक्त श्लोकों में जो शिवमन्दिर की प्रशंसा है वह कैलाश नामक मन्दिर के लिए अधिक उपयुक्त है, दशावतार के लिए नहीं; क्योंकि कैलाश ही सबसे बड़ा मन्दिर है। नहीं मालूम, यह शिलालेख दशावतार पर कैसे आया।

दशावतार की मूर्तियाँ अवलोकनीय हैं। इस मन्दिर का एक भाग केवल विष्णु के अवतारों के लिए रक्खा गया है। उसमें पहले कृष्ण की मूर्ति है। उसके छः हाथ हैं; उन पर गोवर्द्धन रक्खा है; नीचे गो, गोप और गोपियाँ खड़ी हैं। फिर शेष पर नारायण की मूर्ति है। उसके आगे गरुड़ पर विष्णु; पृथ्वी को लिये हुए वराह; याचक के वेष में वामन; हिरण्यकशिपु को हनन करते हुए नृसिंह हैं। द्वार पर विशाल-काय द्वारपाल हैं। मन्दिर के दूसरे भाग में शिव का साम्राज्य है। वहाँ पर, कहीं काली के ऊपर खड़े हुए भैरव दर्शकों को भयभीत कर रहे हैं; कहीं अपने विकटाकार गणों को लिये हुए अष्टभुज त्रिलोचन ताण्डव में निमग्न हैं; कहीं शान्तिमूर्ति शिव पार्वती के साथ चौपड़ खेल रहे हैं; कहीं कैलाश-समेत शिव और पार्वती को उठा ले जाने के लिए लङ्केश्वर रावण को यत्न करते देख नन्दी, भृङ्गी आदि गण उसका उपहास कर रहे हैं; और कहीं सदाशिवजी मार्कण्डेय पर अपना वरद हस्त रखकर यमराज को त्रिशूल की नोक दिखा

रहे हैं। तीसरी तरफ़ लक्ष्मी की एक मूर्ति है; उस पर चार हाथी जलाभिषेक कर रहे हैं। चार पुतलियों के ऊपर कमलासन है; उसी पर लक्ष्मी की प्रतिमा स्थापित है। चार शरीर-रक्षक प्रतिमा के सामने खड़े हैं। वे सब शस्त्रों से सज्जित हैं; और कलश, शङ्ख, चक्र और कमल भी लिये हुए हैं। पास ही विष्णु की एक मूर्ति है; त्रिशूल और कमल हाथ में है; एक विशाल पक्षी मूर्ति के दाहिने हाथ से कुछ खा रहा है; बाईं तरफ़ एक खर्वाकार बौना खड़ा है। चौथी तरफ़, फिर शिव की एक मूर्ति है, जिसके दोनों ओर से ज्वाला निकल रही है। पास ही विष्णु हैं; वे शिव की पूजा कर रहे हैं। ब्रह्मा भी वहीं हैं; वे ऊपर उड़कर शिव के शीश का पता लगाने का यत्न कर रहे हैं। वराह भी वहीं हैं। वे मूर्ति के नीचे पृथ्वी खोदकर उसके निचले भाग का पता लगाना चाहते हैं। यह दृश्य एक पौराणिक प्रसङ्ग का सूचक है। महिम्न के "तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः" इस श्लोक में इसी दृश्य का उल्लेख है।

दशावतार भी पहाड़ को काटकर उसके भीतर बनाया गया है। उसकी छत और खम्भों पर आश्चर्यकारक काम है। खम्भे बहुत बड़े और मोटे हैं; उन पर बारीक बेल-बूटे कढ़े हुए हैं; और अनेक छोटी-बड़ी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उनको चित्र में देखकर ही चित्त विस्मित होता है, प्रत्यक्ष देखने पर देखनेवालों के मन में क्या भाव उदित होगा, यह देखने ही से जाना जा सकता है।



यलोरा में जितने गुफा-मन्दिर हैं—बौद्ध, जैन और हिन्दू—सबमें कैलाश प्रधान है। दक्षिण में पट्टदकल नामक एक प्राचीन स्थान है। उसमें "विरूपाक्ष" नाम का एक पुराना मन्दिर है। यह मन्दिर चालुक्य-वंशीय दूसरे विक्रमादित्य राजा की रानी ने, ७३० ईसवी के लगभग, बनवाया था। कैलाश मन्दिर विरूपाक्ष से बहुत कुछ मिलता है। इस बात से, तथा कैलाश में जो एक शिलालेख का टूटा हुआ टुकड़ा मिला है उससे, यह अनुमान किया जाता है कि ७३०-७५१ ईसवी में, यह मन्दिर राष्ट्रकूट (राठोड़) वंशीय राजा दान्ति-दुर्ग के राज्यकाल में बना था। सम्भव है, दान्तिदुर्ग ही ने इसे बनवाया हो। यह मन्दिर अपनी प्रकाण्डता और अपने अद्भुत शिल्प-कर्म्म के लिए, भरतखण्ड भर में, सब प्राचीन इमारतों में प्रधान है। इसका केवल भीतरी भाग ही पर्वत काटकर नहीं बनाया गया, किन्तु बाहरी भाग भी। पर्वतीय चट्टान का एक प्रचण्ड भाग काटकर पहले अलग कर दिया गया है। फिर उस अलग किये गये प्रस्तर-समूह को भीतर और बाहर तराशकर उसी का मन्दिर बनाया गया है। पहाड़ से एक हाथ भर का सुडौल टुकड़ा काटने में कितना श्रम और कितनी कुशलता दरकार होती है; फिर मण्डप-मण्डित और अनेक शिखरधारी एक विशाल मन्दिर को, पत्थर तराशकर, खड़ा कर देना कितने श्रम, कितने व्यय और कितनी कारीगरी का काम है, यह विचार करने पर

आतङ्क से चित्त की अजब हालत होती है। कैलाश का भीतरी भाग नाना प्रकार के रङ्गीन चित्रों से चित्रित है; बाहर भी कहीं-कहीं वैसे ही चित्र हैं। ये चित्र यद्यपि अब बुरी अवस्था में हैं, तथापि अभी तक वे ऐसे हैं कि उनको देखकर भारत की चित्रविद्या का थोड़ा-बहुत सजीव चित्र देखने को मिलता है। पत्थर में खुदाई का काम तो, इसमें, सभी कहीं है,—भीतर भी और बाहर भी—और ऐसा उत्तम है कि उसे देखकर बड़े-बड़े विलायती कारीगरों की अक़्ल काम नहीं करती। जिस प्राङ्गण में कैलाश का मन्दिर बना है उसकी लम्बाई २७६ फ़ुट और चौड़ाई १५४ फ़ुट है।

कैलाश के चार खण्ड हैं। मन्दिर में कई लम्बे-लम्बे कमरे हैं, जिनमें अनगिनत मूर्तियाँ हैं। इसके शिखर एक के ऊपर एक, दूर तक, चले गये हैं। छत और खिड़कियों में ऐसा काम किया हुआ है कि देखते ही बनता है; उसका यथार्थ वर्णन सर्वथा असम्भव है। इसके प्रकाण्ड स्तम्भ ऐसे मनोमोहक बेल-बूटों से सुसज्जित हैं कि उन्हें देखकर उनके मनुष्यकृत होने में शङ्का होती है। गोपुर के ऊपर शिला-निर्म्मित महाभयानक सिंह अपने बनानेवाले शिल्पियों के शिल्पचातुर्य की पराकाष्ठा प्रकट करते हैं।

इस मन्दिर में पौराणिक दृश्यों की बहुत ही अधिकता है। उनके शतांश का भी वर्णन इस छोटे से लेख में नहीं आ सकता। प्रायः कोई भी पौराणिक दृश्य ऐसा नहीं जिसका

चित्र इसमें न हो। दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देव, दैत्य, ऋषि, गन्धर्व, अप्सरायें सभी कुछ इसमें है। मन्दिर के एक भाग में, एक जगह, सिंहवाहिनी चण्डिका महिषासुर का मर्दन कर रही है; पास ही नन्दी पर आरूढ़ महादेव हैं; ऊपर दिग्पाल, देवता और गन्धर्व आनन्द-पुलकित होकर पुष्पवर्षा कर रहे हैं। दूसरी जगह चतुर्भुज कृष्ण कालीय की फणा पर पैर रक्खे हुए, उसकी पूँछ को पकड़कर खींच रहे हैं। तीसरी जगह नागराज को पैर से दबाये हुए शङ्ख, चक्र आदि आयुधधारी वराह पृथ्वी को उठा रहे हैं। कहीं त्रिविक्रम हैं; कहीं नृसिंह हैं; कहीं शेष-शायी विष्णु हैं। मन्दिर के दूसरे भाग में शिव की कोई २० प्रकार की मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न दृश्यों की व्यञ्जक हैं। कहीं त्रिशूलधारी काल-भैरव पार्वती को लिये हुए खड़े हैं; कहीं षड्भुज सदाशिव त्रिपुरासुर से युद्ध की तैयारी कर रहे हैं; कहीं धूर्जटि हर, जटा फटकारे, डमरू, त्रिशूल और भिक्षा-पात्र लिये हुए, सम्मुख अम्बिका की ओर देख रहे हैं; कहीं अर्द्ध-नारीश्वर नर-नारियों को दर्शन दे रहे हैं। नन्दी की अनेक प्रतिमायें हैं; कितनी ही शिव-मूर्तियों के पास नन्दीजी विराज-मान हैं। परन्तु मन्दिर के सामने नन्दि-मण्डप के भीतर जो नन्दी की मूर्ति है वह सबसे अच्छी और सबसे बड़ी है। कहीं-कहीं भृङ्गी आदि और भी गण हैं। ब्रह्मा और वीरभद्र की कई प्रतिमायें हैं।

इस मन्दिर के शिखरों पर और बाहर भी अनेक मनो-मोहिनी मूर्तियाँ हैं। किसी-किसी जगह के मूर्ति-समुदाय का दृश्य बहुत ही चित्ताकर्षक है। इसमें युद्ध के भी दृश्य हैं। उनमें से कुछ इतने अच्छे हैं कि उनका फोटोग्राफ लेकर लोगों ने अपने पास रक्खा है। जीव-जन्तुओं की भी मूर्तियाँ कैलाश में बहुत हैं। कितने ही सिंह और हाथी भारत की १२०० वर्ष की पुरानी शिलपकला के उत्कर्ष का स्मरण करा रहे हैं। मन्दिर के गोपुर के ऊपर जो खर्वा-कार बौनों की मूर्तियाँ, शङ्ख बजाते हुए, बनाई गई हैं वे बड़ी ही कौतुकावह हैं।

कैलाश के पास ही लङ्केश्वर नामक मन्दिर है। बर्ज्यस साहब ने इसके खम्भों की बड़ी बड़ाई की है। वे उनको बहुत सुन्दर और बहुत मज़बूत बतलाते हैं। उनके चित्र से भी यह बात साबित होती है। इस मन्दिर की कोई-कोई मूर्तियाँ कैलाश की मूर्तियों की भी अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं। उनके गढ़ने में शिलिपयों ने अपने कौशल की सीमा का अन्त कर दिया है। बड़ी सूक्ष्मता और सफ़ाई के साथ वे निर्मित हुई हैं। शङ्कर का ताण्डव-नृत्य, वराह का पृथ्वी-उत्तोलन, पुत्र और पत्नी-युग्म के साथ सूर्य का उदय—ये सब दृश्य बहुत ही अवलोकनीय हैं। उमा और गङ्गा, तथा ब्रह्मा और विष्णु आदि की भी बहुत सी मूर्तियाँ इसमें हैं। खेद है, मुसलमानों ने इस मन्दिर को कई जगह छिन्न-भिन्न कर डाला है।

रामेश्वर नामक गुफा-मन्दिर इसलिए प्रसिद्ध है कि उसके अग्र-भाग में बहुत बड़ी कारीगरी की गई है। वहाँ पर जो काम है, यलोरा के समग्र मन्दिर-समुदाय से अच्छा है। इसके चारों ओर अनेक प्रकार के पशुओं की जो मूर्तियाँ हैं उनमें हाथियों की प्रधानता है। चामुण्डा, इन्द्राणी, वाराही, लक्ष्मी, कौमारी, माहेश्वरी और ब्राह्मी इन सप्त मातृकाओं की मूर्तियाँ इस मन्दिर में देखने लायक़ हैं। इनके सिवाय कार्त्तिकेय, गणेश और महाकाल आदि की भी प्रतिमाओं ने रामेश्वर की शोभा बढ़ाई है।

रामेश्वर के पास ही नीलकण्ठ का मन्दिर है। सप्त-मातृका, गणपति, शिव और गङ्गा की मूर्तियाँ इसमें प्रधान हैं। इसका नन्दि-मण्डप कुछ उजाड़ दशा में है।

सूरेश्वर-मन्दिर का दूसरा नाम कुम्हार-वाड़ा है। यह मन्दिर बड़ा है। इसमें कई दालानें हैं। इसमें रथारूढ़ सूर्य की एक विशाल मूर्ति है। इसी से इसका नाम सूरेश्वर है। सूर्य का एक नाम सूर भी है। इसके खम्भों में ब्रैकेट भी हैं। इन ब्रैकेटों के सामने एक पुरुष और एक स्त्री की उड़ती हुई प्रतिमायें हैं।

धुमार लेन अथवा सीता की चावड़ी यलोरा के हिन्दू-मन्दिरों में सबसे अन्तिम मन्दिर है। इसके भीतर विशाल खम्भों को देखकर बड़ा ही आश्चर्य्य होता है। उत्तर की ओर यह छोर में है। यलिफंटा टापू, जो बम्बई के पास है, वहाँ

भी एक गुफा-मन्दिर ऐसा ही है। जान पड़ता है, यह उसकी नक़ल है। यह बहुत बड़ा मन्दिर है। यह १४८ फ़ुट चौड़ा और १४६ फ़ुट गहरा है। इसमें और-और पौराणिक दृश्यों के सिवा शिव-पार्वती के विवाह का दृश्य विशेष वर्णनीय है। उमा और महेश्वर बायें हाथ में कमल-पुष्प लिये हुए विवाहमण्डप में बैठे हैं। कुछ नीचे, दाहिनी तरफ़, घुटना टेके हुए त्रिशिरा ब्रह्मा, अग्नि के पास, पुरोहित का काम कर रहे हैं। फूल और नारियल लिये हुए, बाईं तरफ़, मेना और हिमवान् कन्या-दान के लिए प्रस्तुत हैं। ऊपर की ओर देवी और देवता मण्डप को सुशोभित कर रहे हैं। विष्णु गरुड़ पर हैं; यम भैंसे पर हैं; वायु हिरन पर हैं; अग्नि बकरे पर हैं। दाहिनी तरफ़ ऐरावत पर इन्द्र और मकर पर निऋ`ति हैं।

इस मन्दिर में वीरभद्र की एक मूर्ति बहुत ही विशाल और भयावनी है।

[जनवरी-फ़रवरी १६०४

३—ईसापुर के यूप-स्तम्भ

सन् १९१०-११ की आरकियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट में दो यूप-स्तम्भों का वर्णन है। ये यूप मथुरा के पास ईसापुर में मिले हैं। यह जगह मथुरा में, यमुना के बायें तट पर, विश्रान्त-घाट के ठीक सामने है। गरमियों में यमुना की धारा बहुत पतली हो जाती है; पानी कम रह जाता है। १९१० ईसवी के जून महीने में राय बहादुर पण्डित राधाकृष्ण को पत्थर के दो खम्भों का कुछ अंश, उथले जल में झलकता हुआ, दिखाई दिया। उन्होंने उन खम्भों को निकालना चाहा। बड़ी कठिनता से किसी तरह उन्होंने उनको वहाँ से खोद निकाला। निकालकर उन दोनों को उन्होंने मथुरा के अजायबघर में रक्खा। इस अजायबघर में और भी अनेक पुरानी वस्तुओं का संग्रह है। इन दो खम्भों में से एक पर संस्कृत में एक लेख खुदा हुआ है। उससे मालूम हुआ कि ये दोनों पुराने यूप-स्तम्भ हैं।

जिस खम्भे पर लेख है वह कोई २० फ़ुट ऊँचा है। नीचे से लेकर कोई ८½ फ़ुट ऊपर तक वह चौकोन है। उसके आगे वह अष्टकोणाकृति है। चौड़ाई १ फ़ुट १ इञ्च और मुटाई १ फ़ुट है। चौकोन अंश के ५ इञ्च ऊपर रस्से की आकृति खुदी हुई है। रस्सा दुहरा लपेटा हुआ है। दोनों

छोर मिलाकर गाँठ दी हुई है। गाँठ के नीचे एक छोर लम्बा लटक रहा है। उसमें फन्दा बना हुआ है। यह यज्ञीय पशु बाँधने का रस्सा है। इसी रस्से से कुछ दूर नीचे, चौकोन अंश पर, लेख खुदा है। ऊपर, सिरे से, एक माला लटकी हुई दिखाई गई है। अपनी गति को पहुँचाये जाने के पहले शायद यज्ञीय पशु के गले से यह माला निकालकर यूप पर लटका दी जाती रही है।

दूसरा स्तम्भ २० फ़ुट २ इञ्च ऊँचा है। वह भी अनेकांश में पहले ही स्तम्भ के समान है। पर उस पर कोई लेख नहीं।

पहले स्तम्भ का लेख स्तम्भ की १२ $\frac{५}{८}$ इञ्च चौड़ी जगह में खुदा हुआ है। उसमें ७ पंक्तियाँ हैं। अक्षरों की उँचाई $\frac{५}{८}$ से १ $\frac{१}{२}$ इञ्च तक है। लेख की नक़ल नीचे दी जाती है—

(१) सिद्धम् ॥ महाराज्यस्य राजातिराज्यस्य देवपु-
(२) त्रस्य शाहेर्वाशिष्कस्य राज्यसंवत्सरे च-
(३) तुर्विंशे २४ ग्रीष्म-मासे चतुर्थे दिवसे
(४) त्रिंशे ३० अस्यां पूर्व्वायां रूद्रिलपुत्रेण द्रोण-
(५) लेन ब्राह्मणेन भारद्वाज-सगोत्रेण मा-
(६) ण-च्छन्दोगेन इष्ट्वा सत्रेण द्वादशरात्रेण
(७) यूपः प्रतिष्ठापितः प्रियन्तां-अग्नयः ॥

अर्थात्—महाराजाधिराज देवपुत्र शाह वाशिष्क के चौबीसवें राज्य-वर्ष में, ग्रीष्म-ऋतु के चौथे महीने के तीसवें

दिन, भारद्वाज-गोत्रीय, माण (?) वेदपाठी ब्राह्मण रूद्रिल के पुत्र द्रोणल ने द्वादशरात्रि-पर्य्यन्त यज्ञ करके इस यूप की स्थापना की। अग्निदेव (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) प्रसन्न हों।

इस लेख का "माण" शब्द ठीक-ठीक नहीं पढ़ा गया। इस लेख को पुरातत्त्ववेत्ता बड़े महत्त्व का समझते हैं। कुशान-वंशीय राजा कनिष्क और हुविष्क के बीच में एक और भी राजा हो गया है। उसका ऐतिहासिक प्रमाण अब तक ठीक-ठीक उनको न मिला था। इस लेख से वह मिल गया और मालूम हो गया कि उस राजा का नाम वाशिष्क था। इसी राजा के राज्यकाल में द्रोणल ने, मथुरा में, १२ रात्रि-पर्यन्त यज्ञ करके, पूर्वोक्त यूप की प्रतिष्ठा की थी। उस ज़माने में ऐसी यूप-स्थापना की चाल थी। ये यूप एक प्रकार की यादगार समझे जाते थे। जो यज्ञ करता था वह उसकी याद बनी रखने के लिए यूप अवश्य गाड़ देता था। इसी से कालिदास ने रघुवंश में लिखा है—

(१) ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम्—सर्ग १
(२) अष्टादशद्वीपनिखातयूपः—सर्ग ६
(३) वेदिप्रतिष्ठान्विततताध्वराणां
यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम्—सर्ग १६

इसी वाशिष्क राजा के राज्यकाल का एक खण्डित शिला-लेख साँची में भी मिला है। वह अब तक ठीक-ठीक न

पढ़ा जाता था। पर ईसापुर के इस यूप-लेख की सहायता से उसका भी उद्धार हो गया और यह स्पष्ट विदित हो गया कि कनिष्क के सदृश वाशिष्क भी प्रतापी राजा था और उसका राज्य साँची तक फैला हुआ था।

भाषा की दृष्टि से भी ईसापुर का यूप-लेख बड़े महत्त्व का है। वह कोई अठारह-उन्नीस सौ वर्ष का पुराना है। उसकी भाषा विशुद्ध संस्कृत है। उसमें जो दो-एक छोटी-छोटी अशुद्धियाँ हैं वे, सम्भव है, खोदनेवाले की असावधानता से हो गई हों। कुशानवंशीय नरेशों के शासन-समय के अन्तर्गत पूर्व-कालीन शिलालेख प्राकृत मिली हुई संस्कृत भाषा में और उत्तर-कालीन शिलालेख संस्कृत मिली हुई प्राकृत भाषा ही में अब तक मिले हैं। अर्थात् पहले प्रकार के लेखों में संस्कृत अधिक है, प्राकृत कम; और दूसरे प्रकार के लेखों में प्राकृत अधिक है, संस्कृत कम। मतलब यह कि उस ज़माने में प्राकृत का प्राबल्य हो रहा था और संस्कृत का नैर्बल्य। मौर्य और शुङ्गवंशीय राजों के राजत्व-काल में तो प्राकृत ही का सार्वदेशिक प्रचार हो गया था। इस कारण उस समय के प्रायः सभी शिलालेख प्राकृत ही में मिले हैं। संस्कृत का प्रचाराधिक्य तो गुप्तवंश के राजों के समय में हुआ। इसी से उत्तरी भारत में उस समय के जितने लेख मिले हैं सब संस्कृत में हैं। इस दशा में ईसापुर के यूप-स्तम्भ का भी लेख प्राकृत मिली संस्कृत में होना चाहिए था। पर है वह प्रायः विशुद्ध संस्कृत

में। इस तरह की संस्कृत में खुदा हुआ जो सबसे पुराना शिला-लेख अब तक मिला है वह १५० ईसवी के आस-पास का है। वह क्षत्रप रुद्रदामा के समय का है और गिरनार की एक पर्वत-शिला पर खुदा हुआ है। ईसापुर का प्रस्तुत लेख उससे भी सौ-पचास वर्ष पुराना है। अतएव सिद्ध है कि उस समय, अर्थात् सन् ईसवी के कुछ समय आगे-पीछे, संस्कृत का यहाँ अच्छा प्रचार था। उस समय के शिलालेख जो प्राकृत या प्राकृतमिश्रित संस्कृत ही में मिले हैं, इसका कारण यह मालूम होता है कि वे प्रायः सब के सब बौद्धों और जैनों के हैं। ये लोग उस ज़माने में प्राकृत के पक्षपाती और संस्कृत के प्रचार के विपक्षी थे। इसी से इनके शिलालेखों में संस्कृत की अवहेलना हुई है। ब्राह्मण लोग आज से दो हज़ार वर्ष पहले भी संस्कृत ही का विशेष आदर करते थे और उसी में शिलालेख खुदवाते और ग्रन्थ-रचना करते थे। ईसापुर में यज्ञ करनेवाला द्रोणल ब्राह्मण ही था। इसी से उसके खुदवाये हुए लेख में संस्कृत ही का प्रयोग हुआ है। विशुद्ध संस्कृत में प्राप्त हुआ यही अब तक सबसे पुराना शिला-लेख है। सम्भव है, और भी ऐसे ही शिलालेख पृथ्वी के पेट में दबे पड़े हों और कालान्तर में पाये जायँ।

यूपों का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक है। यूप बहुत करके खदिर (कत्थे) के वृक्ष का होता था। "था" इसलिए कि इस समय एक-आध भूले-भटके याज्ञिक को छोड़-

कर शायद ही और कोई इस क्रिया-काण्ड के द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा रखता हुआ यज्ञीय पशु बाँधने के लिए यूप काम में लाता हो। जिस काम के लिए यूप गाड़े जाते थे वह लकड़ी ही के यूप से अच्छी तरह हो जाता था। पशु बाँधने के लिए पत्थर तराशने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ईसापुर के यूप उस यज्ञीय स्तूप की केवल यादगार हैं। वे पत्थर के इसलिए बनाये गये हैं कि बहुत समय तक बने रहें और यज्ञकर्ता के यज्ञ की याद दिलाते रहें। लकड़ी के स्तूप गाड़ने से वर्ष ही दो वर्ष में सड़कर वे नष्ट हो सकते हैं।

अच्छा, ये यूप हैं क्या चीज़? शतपथ ब्राह्मण से तो यही मालूम होता है कि ये पशु बाँधने के लिए यज्ञशाला में गाड़े जाते थे। इनको अपनी वर्तमान भाषा हिन्दी में क्या कहना चाहिए। खूँटा तो कही नहीं सकते, क्योंकि वेदवेत्ता ब्राह्मण विद्वानों की राय है कि खूँटा कहने से यूपों की अप्रतिष्ठा होती है। इसी डर से हमने इस लेख में वैसा नहीं किया। अब वही कृपा करके बतावें कि ये "यूप" हिन्दी में भी यूप ही रहें या इनके लिए वे और कोई प्रतिष्ठासूचक नाम चुन देंगे। इन यूपों से जो पशु बाँधे जाते थे उनके लिए "वध" शब्द का प्रयोग भी वेदज्ञ विद्वान् अनादरसूचक समझते हैं। "गवालम्भ"-वाला आलम्भ शब्द शायद उन्हें ऐसे पशु के लिए विशेष प्रतिष्ठाजनक ज्ञात हो। इस प्रतिष्ठाजनक शब्द-प्रयोग से शायद उस पशु का कुछ हित

हो सकता हो। लोक में तो जेल को ससुराल कहने से भी क़ैदियों का कुछ भी उपकार नहीं होता।

ये यूप किस तरह काटे जाते थे? किस तरह गढ़े जाते थे? कब, किस जगह और किस तरह गाड़े जाते थे? उनकी संख्या कितनी होती थी? उन्हें काटने, गढ़ने, गाड़ने और उनकी पूजा करने में कौन-कौन किन-किन मन्त्रों का उच्चारण करता था? पशु को कौन और किस तरह बाँधता तथा पूजता था? यूप से बाँधे हुए पशु का वहीं आलम्भ होता था या खोलकर दूसरी जगह? किसी शस्त्र से काम लिया जाता था या पाश से? ये सब बातें शास्त्रज्ञ पण्डितों के "म्लेच्छों" ने अन्य भाषाओं में लिख डाली हैं। पर उनके कथन का अनुवाद करने का साहस नहीं होता। डर लगता है कि कहीं कोई भूल न हो जाय। शतपथ-ब्राह्मण में ये सब बातें विधिपूर्वक लिखी हुई हैं। सायण, हरिस्वामी और द्विवेद-गङ्ग ने अपनी टीकाओं में इन बातों को और भी विशद रीति से समझा दिया है। पर हम वेदज्ञ और ब्राह्मणज्ञ होने का दावा नहीं कर सकते। इस कारण हम उनके आधार पर भी किसी तरह कुछ लिखकर वेद-वेत्ताओं का जी नहीं दुखाना चाहते। भूलें हो जाने का उसमें भी डर है। आशा है, वेदवेत्ता विद्वान् अपनी क्रिया-शीलता के कुछ अंश का प्रयोग इधर भी करके केवल हिन्दी जाननेवालों की अवगति के लिए इन बातों को सविस्तर प्रकाशित करने की कृपा करेंगे। न

करने से वेद-ब्राह्मणों की अप्रतिष्ठा और अनादर होने की सम्भावना है। कारण यह कि इस विषय के मर्मज्ञ महाशय यदि कुछ न लिखेंगे तो अन्य साधनों के सहारे लोग अपनी जिज्ञासा-तृप्ति करने लगेंगे। इस दशा में यदि वे यूप को खूँटा और आलम्भ को वध कहने लगें तो कोई आश्चर्य नहीं। यदि ऐसा ही होने लगे तो इस भ्रमोत्पादन के आंशिक दोषी हमारे वेदव्रत विद्वान् भी अवश्य ही समझे जायँगे।

[सितम्बर १९१५

४—प्रयाग-प्रान्त के प्राचीन ऐतिहासिक नगर

पूर्वकाल में इलाहाबाद के आस पास के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों में कालनगर, अलर्कपुरी, शृङ्गिवीरपुर, कौशाम्बी, भारहट और प्रतिष्ठानपुर मुख्य थे। मगध देश के चक्रवर्ती राजा अशोक ने अपनी प्रजा के सुभीते के लिए कितनी ही सड़कें बनवाई थीं। पत्थर के ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों और पहाड़ियों की चटानों पर उसने अपनी आज्ञायें और प्रतिज्ञायें खुदवा दी थीं। प्रजा के हित के लिए जो-जो काम उसने किये थे उनका भी उल्लेख उसके इन आदेशों में पाया जाता है। उसके दो उत्कीर्ण शिलालेखों में लिखा है—"मैंने सड़कें बनवा दी हैं; उनके किनारे बड़े-बड़े बरगद और आम के पेड़ लगवा दिये हैं; एक-एक मील पर कुवें खुदवाये हैं; धर्म्मशालायें भी जगह-जगह पर बनवाई हैं। मनुष्यों ही के नहीं, पशुओं और पक्षियों तक के आराम का प्रबन्ध मैंने कर दिया है"।

अशोक की बनवाई कई सड़कों का पता पुरातत्त्ववेत्ताओं ने लगाया है। उज्जैन उस समय मगध-राज्य का एक सूबा था। वहाँ से एक सड़क भिलसा, रूपनगर, भारहट, कौशाम्बी और प्रयाग होती हुई राज-गृह को जाती थी। अशोक के शासनकाल में ये नगर बड़े ही समृद्धिशाली थे। साँची के स्तूप भिलसा के बिलकुल पास हैं। पूर्व काल में भिलसा

की बस्ती साँची तक थी। रूपनगर में अशोक के खुदे हुए शिलालेख मिले हैं। यह नगर भी उस समय बहुत ही अच्छी दशा में था। भारहट और कौशाम्बी का क्या कहना है। इन नगरों की तो बड़ी ही ऊर्ज्जितावस्था थी। कालनगर और शृङ्गिवीरपुर भी ख़ूब वैभवसम्पन्न थे।

कौशाम्बी

कौशाम्बी के आस-पास का प्रान्त पहले वत्स देश कहलाता था। कौशाम्बी उसकी राजधानी थी। उसका वर्तमान नाम कोसम है। यह जगह इलाहाबाद से कोई तीस मील दूर, यमुना के तट पर, है। बारह सौ वर्ष हुए जब चीनी परिव्राजक ह्वेन-सांग भारत में आया था। उसने लिखा है कि उस समय तक कौशाम्बी नगरी अच्छी दशा में थी। वहाँ के राजा के राज्य का विस्तार बारह सौ मील के इर्द-गिर्द में था। गौतम-बुद्ध ने इस नगरी में दो दफ़े करके दो वर्ष तक धर्म्मोपदेश किया था। इस कारण बौद्ध लोग बड़े भक्ति-भाव से इस स्थान की यात्रा करने आते थे। ह्वेन-सांग ने, और उसके कुछ काल पहले ही फ़ा-हियान नामक चीनी यात्री ने भी, कौशाम्बी के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ कितने ही स्तूप, विहार और सङ्घाराम थे।

बौद्ध धर्म्म के आविर्भाव के बहुत पहले ही कौशाम्बी बस चुकी थी। गङ्गा की धारा में हस्तिनापुर के बह जाने के बाद, सुनते हैं, पाण्डववंशी कुशाम्ब नामक राजा ने उसे बसाया था।

पर इसकी विशेष उन्नति राजा चक्र के समय से हुई। आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष पूर्व परन्तप का पुत्र उदयन यहाँ राज्य करता था। राजा उदयन-सम्बन्धिनी कथा पुराणों में भी है, पुराने काव्यों और नाटकों में भी है और कथा-सरित्सागर में भी है। कालिदास ने अपने मेघदूत में इसी उदयन का उल्लेख किया है। बौद्धों के धम्मपद नामक ग्रन्थ में अवन्ति-नरेश की कन्या वासवदत्ता और कौशाम्बी के अधीश्वर उदयन के विवाह की वार्ता बड़े विस्तार से लिखी गई है। बौद्धों के महावंश और ललितविस्तर नामक ग्रन्थों में भी कौशाम्बी के वैभव का बड़ा ही महत्त्वदर्शक वर्णन है। उनमें लिखा है कि प्राचीन समय में कौशाम्बी की गिनती भारत के १६ प्रधान नगरों में थी। राजा उदयन ने बुद्ध की एक मूर्ति चन्दन की बनवाई थी। ह्वेन-सांग के समय तक वह कौशाम्बी के राज-महलों में विद्यमान थी। उसके दर्शन के लिए हज़ारों कोस दूर के देशी और विदेशी बौद्ध वहाँ आते थे। कौशाम्बी में किसी समय बड़ा व्यापार होता था। यमुना के किनारे होने के कारण करोड़ों रुपये का माल वहाँ नावों से आता और वहाँ से श्रावस्ती, साकेत, प्रतिष्ठान और पाटलिपुत्र को जाता था।

कौशाम्बी में कितने ही विहार और स्तूप थे। महाराज उदयन के महल की ऊँचाई ६० फ़ुट थी। इस नगर के इर्द-गिर्द, दो-दो चार-चार मील की दूरी पर, बौद्धों के चार प्रसिद्ध विहार थे। इस स्थान की प्रसिद्धि और समृद्धि को देखकर ही अशोक

ने यहाँ पर एक ऊँचा स्तम्भ बनवाया था और उस पर अपने आदेश खुदाये थे। प्राचीन इतिहास और इमारतों की खोज करनेवाले विद्वानों का अनुमान है कि इलाहाबाद के क़िले में जो स्तम्भ इस समय है वह पहले कौशाम्बी ही में था।

इस समय कौशाम्बी के प्राचीन वैभव की गवाही देने-वाला वहाँ के क़िले का धुस्स मात्र रह गया है। उसका घेरा चार मील से भी कुछ अधिक है। भग्नावशिष्ट दीवार की उँचाई अब भी ३५ .फुट है। पर बुर्जें ५० .फुट तक ऊँची हैं। ये सब मिट्टी की हैं। इस नष्ट-विनष्ट गढ़ के भीतर एक और पुराना चिह्न अब तक विद्यमान है। यह पत्थर का एक ऊँचा स्तम्भ है। इसकी वर्त्तमान उँचाई केवल १४ .फुट है। पर, उसके पास उसके कई टूटे हुए टुकड़े भी पड़े हैं। जनरल कनिंहम ने उसके आस-पास सात-आठ .फुट तक खोदा; पर उसकी जड़ न मिली। टूटे हुए टुकड़ों की उँचाई और आठ .फुट नीचे की खुदाई को जोड़ने से इस स्तम्भ की उँचाई २८ .फुट होती है। परन्तु इस तरह के अन्यान्य स्तम्भों की उँचाई को देखते यह भी ३६ .फुट से कम ऊँचा न रहा होगा। यह स्तम्भ भी बौद्धों के समय का जान पड़ता है। इस पर अशोक का तो कोई लेख नहीं, पर और कितने ही लेख उत्कीर्ण हैं। उनमें से कई बहुत पुराने हैं। एक गुप्त-वंशी नरेशों के समय का है। एक और उससे भी पुराना है। इस स्तम्भ को लोग अब "राम की छड़ी" कहते हैं।

इस कौशाम्बी नगरी में न अब कोई विहार है, न स्तूप है, और न अभ्रङ्कष प्रासाद ही है। हैं अब मिट्टी के धुस्स और एक टूटा-फूटा स्तम्भ। कौशाम्बी का नाम और उसके प्राचीन वैभव का उल्लेख-मात्र प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों में है। उसकी प्राचीन समृद्धि का सबसे अधिक स्मरण दिलानेवाला पूर्वोक्त स्तम्भ है। काल बड़ा बली है। उसके प्रभाव से अनन्त-वैभव-सम्पन्न नगर मिट्टी में मिल गये और जहाँ अखण्ड जङ्गल थे वहाँ बड़े-बड़े क़िले और महल खड़े हो गये।

शृङ्गिवीरपुर

इस नगर का वर्तमान नाम सिंगरौर है। यह जगह इलाहाबाद से १८ मील दूर, गङ्गा के किनारे, है। यहीं शृङ्गी ऋषि का स्थान है। किसी समय यह बहुत बड़ा नगर था। पर गङ्गाजी के गर्भ में चला गया। प्राचीन समय की यहाँ केवल अब ईंटें मात्र कहीं-कहीं देख पड़ती हैं। वर्तमान चबूतरे, स्थान और मन्दिर सब नये हैं। महम्मद मदारी नामक एक मुसलमान की क़ब्र भी यहाँ है।

कोड़ा

कोड़ा भी एक बहुत पुरानी बस्ती है। उसका प्राचीन नाम कर्कोटक-नगर है। पुराणों में लिखा है कि वहाँ पर अपने पिता दक्ष प्रजापति के यज्ञ में मरनेवाली सती का एक हाथ गिरा था। वहाँ पर कालेश्वर का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। उसके नामानुसार उसे कालनगर भी कहते हैं। गङ्गा

के किनारे वहाँ पहले एक बहुत मज़बूत क़िला था। उसका चिह्न-मात्र अब रह गया है। किसी समय यह नगर क़न्नोज-राज जयचन्द के अधिकार में था। यहाँ पर बहुत पुराने समय के कितने ही सिक्के मिले हैं, जो कलकत्ते के अजायबघर में रक्खे हैं। १०३५ ईसवी का खुदा हुआ राजा यशःपाल का एक शिलालेख भी यहाँ मिला है।

ख़्वाजा करक नामक एक औलिया की यहाँ प्रसिद्ध क़ब्र है। १३०९ ईसवी में उसकी मृत्यु हुई थी। अलाउद्दीन मुहम्मद ख़िलजी ने जिस समय अपने चचा जलालुद्दीन मुहम्मद ख़िलजी को मारा था उस समय ख़्वाजा करक जीते थे। एक और भी क़ब्र यहाँ पर है। वह कमाल ख़ाँ की है।

कड़े के भग्नावशेष गङ्गा के किनारे-किनारे कोई दो मील तक देख पड़ते हैं। पहले यह बहुत बड़ा शहर था। अनेक क़ब्रें, मसजिदें और ईदगाहें यहाँ अब तक हैं। मुग़ल-बादशाहों के सूबेदार पहले यहीं रहते थे। जब से अकबर ने इलाहाबाद में क़िला बनवाया तब से सूबेदारी वहाँ उठ गई और कड़े की अवनति आरम्भ हुई। इस समय वहाँ पृथ्वी के पेट में जितने मुर्दे गड़े हुए हैं उससे बहुत कम मनुष्य जीवित अवस्था में पृथ्वी के ऊपर हैं।

अरैल

इलाहाबाद से चार मील दूर एक जगह अरैल है। उसका प्राचीन नाम अलर्कपुरी है। पर उसका पूर्वेतिहास बिलकुल ही

अज्ञात है। सोमेश्वर और वेनीमाधव के प्रसिद्ध मन्दिर यहीं पर हैं। इन मन्दिरों की कोई-कोई मूर्त्तियाँ महत्त्व की हैं।

प्रतिष्ठानपुर

प्रतिष्ठानपुर के प्राचीनत्व के बोधक अब केवल मिट्टी के पुराने बर्तनों के टूटे-फूटे टुकड़े, मिट्टी और ईंटों के ऊँचे-ऊँचे धुस्स, और गुप्तवंशी नरेश समुद्रगुप्त और हंसगुप्त के क़िलों के टीले मात्र हैं। जिस जगह पर प्राचीन प्रतिष्ठानपुर था वहाँ अब नई और पुरानी भूँसी नाम के दो गाँव हैं। भूँसी गङ्गा के उत्तरी तट पर है और इलाहाबाद से केवल तीन मील है। प्रतिष्ठानपुर चन्द्रवंशी राजों की बहुत दिन तक राजधानी था। प्रसिद्ध राजा पुरूरवा यहीं हुआ है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में जिस प्रतिष्ठानपुर का उल्लेख किया है वह स्थान यही है। कोई ४५ वर्ष हुए, राजा कुमारगुप्त के समय की २४ सुवर्ण-मुद्रायें यहाँ मिली थीं। जैसे सारनाथ आदि स्थानों में खोदने पर सैकड़ों चीज़ें पुराने समय की मिली हैं, वैसे ही, यदि यहाँ पर भी खुदाई हो तो, बहुत सी चीज़ों के मिलने की सम्भावना है। राजा त्रिलोचनपाल का एक दानपत्र, जिस पर विक्रम संवत् १०८४ खुदा हुआ है, यहाँ मिल भी चुका है। इस संवत् तक प्रतिष्ठानपुर का वैभव विशेष क्षीण नहीं हुआ था। पर इसके बाद ही इसकी उतरती कला आरम्भ हुई। धीरे-धीरे काल ने इसकी वह गति कर डाली जिसमें यह इस समय वर्तमान

है। उधर प्रतिष्ठान की अवनति हुई, इधर प्रयाग की उन्नति। किसी-किसी का अनुमान है कि प्रतिष्ठान की अवनति के कारण मुसलमान हैं। यह भी किंवदन्ती है कि हरबोंग नाम का एक मूर्ख राजा यहाँ हुआ। उसके सब कामों में—

टका सेर भाजी टका सेर खाजा

वाली कहावत चरितार्थ होती थी। उसी के समय से प्रतिष्ठान की अधोगति का सूत्रपात हुआ। परन्तु इस विषय का कोई विश्वसनीय ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। नहीं मालूम, सच बात क्या है।

झूँसी में समुद्रगुप्त और हंसगुप्त के क़िलों का अब कोई चिह्न नहीं। पर समुद्रगुप्त का समुद्र-कूप अब तक बना हुआ है। इसी कूप के पास, थोड़ी दूर पर, हंस-कूप अथवा हंस-तीर्थ नाम का एक और पुराना कुवाँ है। वह महाराज हंसगुप्त का बनवाया हुआ है। वह बिगड़ा पड़ा है। उस पर एक लेख खुदा है जिसमें लिखा है कि इसमें स्नान करने से पापों का चालन होता है। इसी के पास एक नया मकान बन गया है। लोग अब उसे ही हंसतीर्थ समझते हैं। पुराने और सच्चे हंसतीर्थ को वे भूल सा गये हैं।

झूँसी के नये स्थानों में से तिवारी का मन्दिर देखने योग्य है।

[फ़रवरी १९११

५—खजुराहो

काल बड़ा बली है। जहाँ नदियाँ थीं वहाँ मरुस्थल हैं; जहाँ लहराते हुए खेत थे वहाँ गगनचुम्बी पर्वत हैं; जहाँ विशाल-शिखर राजप्रासाद थे वहाँ निबिड़ कानन है। यह काल ही की करतूत है। खजुराहो के साथ काल ने कराल कुटिलता का व्यवहार किया है। उसकी सारी समृद्धि का उसने संहार कर डाला; विश्वकर्म्मा के भी शिल्प कर्म्म को मात करनेवाली अनेक इमारतों को उसने ख़ाक में मिला दिया; बड़े-बड़े पराक्रमी राजों, परमार्थज्ञानी पण्डितों, प्रति-कुबेर धनाढ्यों का नाम तक उसने शेष न रक्खा ! सचमुच काल बड़ा बली है; उसका प्रतिद्वन्द्वी संसार में नहीं। खजुराहो को उसने क्या से क्या कर डाला। एक वह समय था जब वह, हज़ारों वर्ष तक, एक विस्तृत प्रदेश की राजधानी था। एक यह समय है कि लोग उसका नाम तक नहीं जानते।

अबू रैहाँ, इब्न बतूता और ह्वेन-सांग के ऐतिहासिक लेखों से मालूम होता है कि बुँदेलखण्ड का प्राचीन नाम जजोती, या जझोती, या जझावती था। यह शब्द यजुर्होता या जेजाक-भुक्ति का अपभ्रंश जान पड़ता है। यहाँ यजुर्होता, अर्थात् जजोतिया, लोग रहते थे। जैसे कान्यकुब्ज-देश के नाम से कान्यकुब्ज, मिथिला के नाम से मैथिल और द्रविड़ के नाम से द्राविड़ लोगों

ने प्रसिद्धि पाई, वैसे ही जजोती-प्रान्त के रहनेवालों ने जजोतिया नाम पाया। बुँदेलखण्ड में अब भी जजोतिया ब्राह्मण रहते हैं; ब्राह्मण ही नहीं, बनिये तक जजोतिया कहलाते हैं। इस प्रान्त को छोड़कर, इस देश में, जजोतिया प्रायः और कहीं नहीं रहते। खजुराहो, इसी जजोतिया प्रान्त की प्राचीन राजधानी था। इसे अब कोई-कोई खजुरों भी कहते हैं।

खजुराहो का सारा वैभव नाश हो गया है। वह समूल ही उजड़ गया है। परन्तु इस भग्नावस्था में भी वहाँ कोई ३० मन्दिर अब तक विद्यमान हैं, जो उसकी पुरानी समृद्धि का साक्ष्य दे रहे हैं। इनमें से ६ मन्दिर जैनों के, एक बौद्धों का और शेष २३ हिन्दुओं के हैं।

हमीरपुर ज़िले में महोबा एक तहसील है। वह चरखारी से दस-बारह मील है। जो रेलवे-लाइन मानिकपुर से झाँसी को जाती है उसी पर एक स्टेशन महोबा भी है। महोबा से खजुराहो ३४ मील, छत्रपुर से २७ मील और पन्ना से २५ मील है। खजुराहो से केन नदी ८ मील है। १०२२ ईसवी में महमूद ने कालिञ्जर पर चढ़ाई की थी। उसके साथ अरब का रहनेवाला अबू रैहाँ नामक एक इतिहास-लेखक था। पहले-पहल उसी के लेख में खजुराहो का नाम पाया जाता है। वह उसे कजुराहह कहता है और जजहुति की राजधानी बतलाता है। इसके अनन्तर इब्न बतूता के ग्रन्थ में खजुराहो का नाम मिलता है। उसका

ग्रन्थ अरबी में है। ली साहब ने उसका अनुवाद अँगरेज़ी में किया है। इब्न बतूता १३३५ ईसवी में इस देश में आया था। वह खजुराहो को कजुरा कहता है। इन लोगों ने अपने ग्रन्थों में जो पता बतलाया है उससे यह निर्भ्रान्त सिद्ध होता है कि उनका मतलब खजुराहो ही से है।

जजोती-प्रान्त का नाम सबसे पहले ह्वेन-सांग के ग्रन्थ में मिलता है। यह चीनी परिव्राजक सातवें शतक में यहाँ आया था। वह खजुराहो राजधानी की परिधि २ मील बतलाता है और कहता है कि साधुओं और संन्यासियों ही की बस्ती उसमें अधिक है। उसमें कई दर्जन बौद्ध-मठ हैं; परन्तु बौद्ध-संन्यासी बहुत कम हैं। हिन्दुओं के १२ मन्दिर हैं, जिनमें एक हज़ार के लगभग ब्राह्मण, पूजा-पाठ के लिए, रहते हैं। राजा ब्राह्मण है; परन्तु बौद्ध धर्म्म को वह हृदय से मानता है। ह्वेन साँग ने जजोती-प्रान्त का जो वर्णन किया है उससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि उसका मतलब उसी प्रान्त से है जो, इस समय, बुँदेलखण्ड कहलाता है। इससे यह अर्थ निकला कि प्राचीन समय में बुँदेलखण्ड का नाम, कान्यकुब्ज, गौड़ और द्रविड़ इत्यादि की तरह, जजोती था; और इस जजोती की राजधानी खजुराहो में थी। जजोती-प्रान्त में जजोतियों ही की बस्ती अधिक थी। कान्यकुब्ज इत्यादि की तरह, जजोती-प्रान्त ही के नाम से वहाँ के रहने-वाले जजोतिया कहलाये। उनका यह जजोतिया नाम अब

तक बना हुआ है; परन्तु, जब से बुँदेलों का प्राधान्य इस प्रदेश में हुआ तब से, उनके नामानुसार, इस प्रान्त का नाम बदलकर बुँदेलखण्ड हो गया। जनरल कनिंहाम ने अपनी आरकियालाजिकल रिपोर्ट में, जहाँ से हमको इस लेख की सामग्री मिली है, इस विषय का ख़ूब विचार किया है।

इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि खजुराहो में चँदेलों के पहले किस-किस वंश के नरेशों ने राज्य किया। परन्तु कनिंहाम साहब का अनुमान है कि ह्वेन सांग के समय में वहाँ ब्राह्मणों का राज्य था; उसके अनन्तर गुप्त-वंशी राजों का हुआ; और सबसे पीछे चँदेलों का। ब्राह्मण-राजों के समय के दो-एक मठ बहुत ही टूटी-फूटी दशा में अब तक विद्यमान हैं। किसी-किसी मठ के एक-आध पत्थर पर बौद्ध-धर्म्म का सूचक "ये धर्म्महेतुप्रभवाः" वाक्य भी खुदा हुआ दिखाई देता है। गुप्त-वंशी राजों के राजत्व का प्रमाण उनके सिक्कों और शिलालेखों से मिलता है। परन्तु चँदेलों के राजत्व के निशान औरों की अपेक्षा बहुत हैं; और बड़े-बड़े हैं। ये निशान खजुराहो के विशाल मन्दिर हैं।

अनुमान है कि ग़ज़नी के महमूद की चढ़ाई के समय से खजुराहो की शोभा क्षीण होने लगी। उस समय खजुराहो में नन्दराय नामक राजा था। खजुराहो मैदान में था; इस-लिए वहाँ के क़िले में रहने से शत्रु से पराजय पाने का अधिक डर था। इसी लिए नन्दराय खजुराहो से कालिञ्जर के

पहाड़ी क़िले में चला गया। वहाँ से, कुछ काल के अनन्तर, उसने, या उसकी सन्तति ने, महोबा में रहना पसन्द किया। बारहवें शतक के अन्त तक चन्देलवंशी राजों ने अपनी राजधानी महोबा में रक्खी। वहाँ पर विजयपाल, कीर्तिवर्म्मा और मदनवर्म्मा के राजत्व के सूचक विजय-सागर, कीर्ति-सागर और मदन-सागर नाम के तालाब अब तक बने हुए हैं। तेरहवें शतक के आरम्भ में क़ुतुबुद्दीन ऐबक़ ने कालपी और महोबा को अपने अधिकार में कर लिया। तब से चन्देल राजे हमेशा के लिए कालिञ्जर में रहने लगे। जब तक चँदेले महोबा में रहे तब तक खजुराहो की अवनति धीरे-धीरे होती रही। परन्तु जब उन्होंने महोबा छोड़ दिया और मुसलमानों ने वहाँ पर अपना क़दम जमाया तब से खजुराहो की लक्ष्मी ने उसे छोड़ जाने में बहुत जल्दी की; और शीघ्र ही उसे प्रायः पूरी तौर पर परित्याग कर दिया। १३३५ ईसवी, अर्थात् इब्न बतूता के समय, तक खजुराहो में "दुबले-पतले जटाधारी अनेक योगी-यती विद्यमान थे"। परन्तु अकबर के समय में वे भी न रह गये। क्योंकि आईने-अकबरी में खजुराहो का कहीं नाम नहीं। उन्नीसवें शतक के आरम्भ, अर्थात् १८१८ ईसवी, में फ़्रैंकलिन नाम के एक साहब ने, वहाँ पर, बिलकुल जङ्गल पाया था। ये साहब बन्दोबस्त के महकमे से सम्बन्ध रखते थे। इन्होंने इस प्रान्त के नक़शे में "कजरौ" लिखकर उसके आगे "उजाड़"

का शब्द जोड़ दिया है। परन्तु इस "उजाड़ कजरौ" में फाल्गुन के महीने में, शिवरात्रि को, अब भी लाखों आदमी इकट्ठे होते हैं। वहाँ उस समय एक बहुत बड़ा मेला लगता है और दो-तीन कोस तक आदमी ही आदमी नज़र आते हैं।

खजुराहो, इस समय, एक छोटा सा गाँव है। उसमें कोई दो सौ घर हैं और एक हज़ार आदमी के लगभग रहते हैं। जजोतिया ब्राह्मण अधिक हैं; चन्देल-राजपूत कम। वहाँ के राजपूत अपने को पृथ्वीराज के प्रतिस्पर्धी परमाल (परमर्दि देव) के वंशज बतलाते हैं। वहाँ खजूर-सागर नाम का एक बड़ा तालाब है। उसी के दक्षिण-पूर्व कोने पर यह गाँव है। गाँव के चारों तरफ़ की भूमि मन्दिरों और मन्दिरों के भग्नावशिष्ट भागों से घिरी हुई है। ये इमारतें तीन जगहों पर अधिक हैं—पश्चिम की तरफ़, उत्तर की तरफ़ और दक्षिण-पूर्व की तरफ़। कुछ मन्दिर करार नामक नाले के तट पर भी हैं। यह नाला गाँव से कोई मील भर है। ये टूटे और बे-टूटे मन्दिर दूर-दूर तक चले गये हैं। इन इमारतों के फैलाव के देखने से, ह्वेन सांग का लिखा हुआ, खजुराहो का, विस्तार ठीक जान पड़ता है। सातवें शतक में इस परिव्राजक ने खजुराहो को अच्छी दशा में देखा था। उसके लिखे हुए तत्कालीन इमारतों के वर्णन से यह सिद्ध है कि कम से कम ईसा की पहली सदी में खजुराहो अस्तित्व में था। अर्थात् खजुराहो के कोई-कोई खँड़हर दो हज़ार वर्ष के पुराने हैं।

खजुराहो में, भग्न और अभग्न, सब ३० मन्दिर और मठ हैं। उनके नाम हम नीचे देते हैं—

पश्चिमी-समूह

१ चौंसठ जोगिनी का मन्दिर
२ गणेश का मन्दिर
३ कण्डारिया (?) महादेव
४ महादेव का मन्दिर
५ देवी जगदम्बा का मन्दिर
६ चित्रगुप्त का ,,
७ विश्वनाथ का ,,
८ नन्दिगण का ,,
९ पार्वती का ,,
१० चतुर्भुज का ,,
११ वराह का ,,
१२ देवी का ,,
१३ मृतङ्ग (मृत्युञ्जय) महादेव का मन्दिर (उजाड़)
१४ (उजाड़)

उत्तरी-समूह

१५ सत्यधरा (उजाड़)
१६ वत्सी की टोरिया (उजाड़)
१७ वामन का मन्दिर
१८ लक्ष्मण ,,
१९ हनूमान ,,
२० ब्रह्मा ,,

२१ गन्थाई (बौद्ध लोगों का)

दक्षिणी-पूर्वी समूह

२२ पार्श्वनाथ
२३ आदिनाथ
२४ पार्श्वनाथ
२५ जिननाथ
२६ श्वेतनाथ
२७ आदिनाथ
२८ ऊँचा टीला

जैनों के मन्दिर

कुरार नाले के किनारे के मन्दिर

२९ नीलकण्ठ महादेव
३० कुँवर मठ

इनमें से दो-चार प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मन्दिरों का वर्णन, हम, यहाँ पर, थोड़े में, करते हैं—

पश्चिमी समूह में जितने मन्दिर हैं वे प्राय: दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मालूम होते हैं। पर उनमें से चौंसठ जोगिनी का मन्दिर सबसे पुराना है। वह आठवीं शताब्दी के इधर का नहीं जान पड़ता। चौंसठ जोगिनी के बीच का मन्दिर नष्ट हो गया है। उसके चारों तरफ़ दीवार में छोटी-छोटी ६४ कोठरियाँ हैं। उन्हीं में योगिनियों की मूर्त्तियाँ स्थापित थीं। मन्दिर का प्राङ्गण १०२ फ़ुट लम्बा और ६० फ़ुट चौड़ा है। दीवारों की मुटाई १½ फ़ुट है। प्रत्येक योगिनी की कोठरी ३⅙ फ़ुट ऊँची है। कोठरियों का दर-

वाज़ा बहुत छोटा है। सब कोठरियाँ मन्दिर के आकार की हैं, उन पर कलश भी हैं। पर मूर्तियाँ उनमें अब एक भी नहीं।

कण्डारिया महादेव का मन्दिर, खजुराहो में, सबसे बड़ा है। वह १०९ फुट लम्बा, ६० फुट चौड़ा और ११६ फुट ऊँचा है। उसमें मन्दिर के सब लक्षण हैं। अर्द्धमण्डप, मण्डप, महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह ये सब उसमें हैं। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि "कण्डारिया" का मतलब क्या है? इस मन्दिर की छत में बहुत अच्छा काम है। इस का कोई भाग ऐसा नहीं है जिसमें पत्थर को काटकर मूर्तियाँ न बनाई गई हों। जगह-जगह पर ताक़ हैं; उन पर मूर्तियाँ बैठी हुई हैं। भीतर, बाहर, ऊपर, नीचे—यह मन्दिर मूर्तिमय हो रहा है। मन्दिर के भीतर २२६ और बाहर ६४६ मूर्तियाँ कनिंहाम साहब ने गिनी थीं। एक मन्दिर में ८७२ मूर्तियाँ! बहुत हुईं। मूर्तियाँ छोटी भी नहीं। कोई-कोई मूर्ति तीन-तीन फुट ऊँची है! इन मूर्तियों का अधिक समूह गर्भ-गृह और महामण्डप के बीचवाले खम्भों पर है। इनमें से अनेक मूर्तियाँ अश्लीलता-व्यञ्जक हैं। सुनते हैं, कुछ तो ऐसी हैं जिनकी तरफ़ देखा नहीं जाता। परन्तु बहुत सी मूर्तियाँ अच्छी भी हैं। अच्छी अधिक हैं; अश्लील कम। देवी-देवताओं की जितनी मूर्तियाँ हैं वे सब बहुत अच्छी हैं। इस मन्दिर में ४½ फुट मोटा शिवलिङ्ग है।

जान पड़ता है कि यह लिङ्ग पहले ही का है। जिस समय मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई थी उसी समय उसकी भी स्थापना हुई थी। इस मन्दिर के बनानेवाले कारीगरों ने "कुटिल" अक्षरों में अपने नाम खोद दिये हैं। उनसे अनुमान होता है कि यह मन्दिर दसवीं शताब्दी का है।

कनिंहाम साहब एक मन्दिर का नाम "छत्रकीपत्र" बतलाते हैं और कहते हैं कि उनको इसका मतलब समझ नहीं पड़ा। शायद यह चित्रगुप्त का मन्दिर हो। परन्तु और बातों से मालूम होता है कि यह सूर्य्य का मन्दिर है गर्भ-गृह के द्वार पर इसमें सूर्य्य की तीन प्रतिमायें हैं और भीतर ५ फुट ऊँची सूर्य्य की एक बहुत ही बड़ी प्रतिमा है। उसके दोनों हाथों में कमल के फूल हैं। मूर्त्ति के नीचे, आधार में, सूर्य्य के सात घोड़े भी बने हुए हैं। इसके अर्द्ध-मण्डप और महामण्डप का बहुत कुछ भाग गिर पड़ा है। इसके खम्भों वग़ैरह में, कहीं-कहीं पर, काम पूरा नहीं हुआ। इससे जान पड़ता है कि बनवानेवाले के इच्छानुसार काम होने के पहले ही उसे, किसी कारण से, छोड़ देना पड़ा। इसमें भी मन्दिर की बाहरी तरफ़ अश्लील मूर्तियों की तीन पाँतें हैं। परन्तु अश्लीलता की मात्रा इनमें कम है। ब्रह्मा, सरस्वती, शिव, पार्वती, विष्णु, लक्ष्मी और वराह आदि की जो मूर्तियाँ इस मन्दिर में हैं वे बिलकुल अश्लीलता-रहित हैं और देखने लायक़ हैं। इसमें कोई शिलालेख नहीं। परन्तु

दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी के कुटिल अक्षरों में भीम, सुवच और नाहिल आदि अनेक कारीगरों के नाम खुदे हुए हैं।

पश्चिमी-समूह के मन्दिरों में विश्वनाथ का मन्दिर ठेठ उत्तर की तरफ़ है। उसका आकार-प्रकार वैसा ही है जैसा कण्डारिया मन्दिर का है। परन्तु उससे यह कुछ छोटा है। इसकी लम्बाई ८७ फ़ुट और चौड़ाई ४६ फ़ुट है। कण्डारिया से यह छोटा है सही; परन्तु उससे कहीं अच्छी हालत में है। इसके चारों कोनों में एक-एक छोटा मन्दिर है और एक सामने भी है। इन छोटे मन्दिरों में से कोई-कोई अभी तक पूरा बना हुआ है; कोई-कोई गिर पड़ा है। गर्भ-गृह के द्वार के ऊपर नन्दी पर सवार शिव की मूर्ति है। उसके दाहिनी तरफ़ हंस पर ब्रह्मा हैं और बाईं तरफ़ गरुड़ पर विष्णु। मन्दिर के भीतर शिव का एक लिङ्ग है। इस मन्दिर के भी बाहर अश्लील मूर्तियों के झुण्ड हैं। जगह-जगह पर स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं, जिनमें यह दिखलाया गया है कि वे अपने वस्त्रों को गिराकर नग्न होना चाहती हैं। सब मिलाकर ६०२ मूर्तियाँ इस विशाल मन्दिर के बाहर बनी हुई हैं। उनकी ऊँचाई दो से ढाई फ़ुट तक है। मन्दिर के भीतर का काम बहुत अच्छा है; अनेक प्रकार का है; और बहुत है। महामण्डप और गर्भ-गृह की छत में दस कोने हैं और प्रत्येक कोने में आधे क़द के एक-एक हाथी की मूर्ति है। ये मूर्तियाँ बाहर की तरफ़ निकली हुई हैं और बहुत बड़ी होने के कारण

मन्दिर की शोभा को कुछ कम कर देती हैं। उनके कारण मन्दिर का मनोहर दृश्य किसी क़दर छिप जाता है।

इस मन्दिर में दो शिलालेख हैं। एक ९९९ ईसवी का, दूसरा १००१ ईसवी का। यह मन्दिर चन्देल राजा धङ्ग का बनवाया हुआ है। आदि में जो शिवलिङ्ग इस मन्दिर में स्थापित किया गया था वह मरकतमय था; परन्तु उस मारकतीय लिङ्ग का कुछ पता नहीं। यात्रियों और कारीगरों के अनेक नाम इस मन्दिर के पत्थरों पर उत्कीर्ण हैं। उनमें से दो-चार नाम ये हैं—श्रीजस, रान, श्रीदेवनन्द, श्रीदेवादित्य, श्रीमहानाग, और श्रीजगद्देव।

खजुराहो में इतने प्राचीन मन्दिरों को देखकर आश्चर्य्य होता है। जान पड़ता है कि मुसलमानों के आवागमन मार्ग से दूर होने के कारण उनके हथौड़े, गोलियाँ और फावड़े इन तक नहीं पहुँच सके। ऐसे-ऐसे मन्दिरों को समूल खोद डालने से, जब इन लोगों के लिए स्वर्ग और मर्त्य, दोनों लोकों में, ऊँचे-ऊँचे महल और मसजिदें बिना प्रयास तैयार हो सकती हैं तब यदि वे यहाँ तक पहुँच सकते तो थोड़ा-बहुत पुण्य-सञ्चय किये बिना कभी न रहते।

चतुर्भुज का मन्दिर भी, यहाँ पर, बड़े मन्दिरों में से है। इसे कोई-कोई रामचन्द्र का मन्दिर कहते हैं और कोई-कोई लक्ष्मण का। परन्तु तीनों नाम विष्णु ही के वाचक हैं। इसमें जो प्रधान मूर्ति है वह चतुर्बाहु है। इसलिए

इस मन्दिर का नाम चतुर्भुज अधिक सार्थक है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई लगभग उतनी ही है जितनी विश्वनाथ के मन्दिर की है। और बातों में भी यह उसी के अनुरूप है। इसमें भी सामने और चारों कोनों में एक-एक छोटा मन्दिर है। काम भी इसका प्रायः उसी मन्दिर का जैसा है। हाँ, एक बात की इसमें कमी है। इसमें मूर्तियों की प्रचुरता नहीं है। सिर्फ़ १७० मूर्त्तियाँ भीतर और २३० बाहर हैं। इसके चबूतरे की दीवारों पर नक्क़ाशी का काम बहुत अच्छा है। कहीं पर बनैले सुअरों का शिकार किया जा रहा है; कहीं पर सजे हुए हाथियों और घोड़ों की पाँतें खड़ी हैं; कहीं पर अनेक प्रकार के शस्त्रों से सज्जित सिपाही चले जा रहे हैं। इस मन्दिर में भी एक लेख है। वह ९५४ ईसवी का खुदा हुआ है। उसमें चन्देलवंशी राजों के नाम, यशोवर्म्मा और उसके पुत्र धङ्ग तक, हैं। खजुराहो के मन्दिर छत्रपुर की रियासत में हैं। जिस समय महाराजा छत्रपुर ने इस मन्दिर की मरम्मत कराई उस समय यह शिलालेख इस मन्दिर के नीचे एक जगह गड़ा हुआ मिला। यह बात १८४३ ईसवी के बाद की है; क्योंकि उस समय तक इस लेख का कोई पता न था। इस लेख के अनुसार यह मन्दिर राजा यशोवर्मा ने बनवाना आरम्भ किया; पर उसकी मृत्यु के अनन्तर, उसके पुत्र धङ्ग के राजत्वकाल में, यह समाप्ति को पहुँचा।

मृतङ्ग महादेव अथवा मृत्युञ्जय का मन्दिर सम-चतुष्कोण है। भीतर से वह २४ वर्ग .फुट है और बाहर से ३५। उसके भीतर शिव का जो लिङ्ग है वह ८ .फुट ऊँचा है। मुटाई उसकी ३ .फुट ८ इञ्च है। इसमें न तो कोई शिलालेख ही है और न किसी मिस्त्री या यात्री का कोई नाम ही है। मरम्मत करने में बाहर से इस पर इतना गाढ़ा चूना पोत दिया गया है कि उसका भीतरी दृश्य बिलकुल छिप गया है। इससे यह नहीं विदित होता कि चूने के नीचे कुछ काम था या नहीं और था तो कैसा था। इसके शिखर पर एक चमकीला कलश है, जिसे महाराजा छत्रपुर ने लगवाया है।

उत्तरी-समूह में जितने मन्दिर हैं उनमें से वामनजी का मन्दिर सबसे बड़ा है। उसकी लम्बाई ६० .फुट और चौड़ाई ३८ फुट है। मन्दिरों के बाहर की तरफ़ इसमें दो पाँतें मूर्त्तियों की हैं। गिनती में वे कोई ३०० के लगभग होंगी। इसके भीतर वामन की भी मूर्त्ति है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भी मूर्त्तियाँ हैं। इस मन्दिर में यह विशेषता है कि इसमें जो काम है वह कई प्रकार का है; एक नमूने का नहीं है, अनेक नमूने का है और उत्तम है। यह मन्दिर भी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी का जान पड़ता है।

दक्षिण-पूर्वी समूह में एक मन्दिर बौद्धों का और ६ जैनों के हैं। उनमें से एक जैन मन्दिर बहुत बड़ा है। वह जिन-नाथ के नाम से प्रसिद्ध है। उसके द्वार के एक ओर एक

छोटा सा लेख है जिसमें लिखा है कि राजा धङ्ग के राज्यकाल में भव्य पाहिल ने, ९५४ ईसवी में, इस मन्दिर के लिए कई बाग़ सङ्कल्प कर दिये। उसी लेख में, इस मन्दिर का नाम जिन-नाथ का मन्दिर भी लिखा है। इसकी लम्बाई ६० फ़ुट और चौड़ाई ३० फ़ुट है। एक धनी जैन ने इसकी मरम्मत करा दी है। इससे यह अब बिलकुल नया मालूम होता है। देखने में यह मन्दिर बहुत सुन्दर, सुडौल और दर्शनीय है। इसके भी बाहर बहुत सी मूर्त्तियाँ हैं। जैन मूर्त्तियों के बीच में हिन्दू-देव और देवियों को भी स्थान मिला है। यात्रियों ने इस मन्दिर पर लम्बे-लम्बे लेख खोद डाले हैं। इन यात्रियों में दो एक राजपुत्र भी थे।

आदिनाथ और पार्श्वनाथ के मन्दिर यद्यपि छोटे हैं; परन्तु औरों की अपेक्षा कुछ अधिक पुराने हैं।

इन मन्दिरों के सिवा, खजुराहो में, छोटी-बड़ी सैकड़ों मूर्त्तियाँ हैं। उनमें से कुछ खँडहरों में पड़ी हैं; कुछ मन्दिरों के आस-पास रक्खी हैं; और कुछ तालाबों के किनारे रख दी गई हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े पेड़ों के नीचे भी वे विराज रही हैं। इन मूर्त्तियों में से एक मूर्त्ति हनूमान् की है। उसके पीठक पर एक छोटा सा लेख, ८६८ ईसवी का, है। चन्देल-वंशी राजों के समय के शिलालेखों में यह सबसे पुराना है।

[मई १९०७

—

६—देवगढ़ की पुरानी इमारतें

ललितपुर पहले संयुक्त-प्रदेश का एक ज़िला था। परन्तु अब वह ज़िला नहीं; झाँसी का एक सब-डिवीज़न मात्र है। झाँसी से ललितपुर ५६ मील है। ललितपुर के आस-पास देवगढ़, चन्देरी, चाँदपुर, दुधई, मदनपुर, तालबेहट, बानपुर, खजुराहो और बुधनी इत्यादि में बहुत सी पुरानी इमारतें हैं। उनमें से कितनी ही बहुत प्राचीन हैं। चट्टानों के ऊपर कहीं-कहीं ऐसी मूर्तियाँ और चित्र बने हुए हैं जो ऐतिहासिक समय के भी पहले के हैं। गवर्नमेंट ने एक महकमा खोल रक्खा है, जिसका काम पुरानी इमारतों और शिलालेखों इत्यादि का पता लगाना, उनका इतिहास लिखना और उनके नक़शे तथा फोटोग्राफ़ इत्यादि प्रकाशित करना है। बाबू पूर्णचन्द्र मुकुर्जी इस महकमे से सम्बन्ध रखते थे। उनका शरीरान्त हुए कई वर्ष हुए। १८८७ ईसवी में वे झाँसी में थे। उसी समय हम भी पहले-पहल झाँसी आये थे। ललितपुर के सब-डिवीज़न में देवगढ़ की पुरानी इमारतें बहुत प्रसिद्ध हैं। पूर्ण बाबू से उनकी प्रशंसा सुनकर हमको उन्हें देखने की इच्छा हुई। अतएव कई मित्रों के साथ जाकर हमने उनको प्रत्यक्ष देखा। उन्हीं का संक्षिप्त वृत्तान्त हम यहाँ पर लिखते हैं। पूर्वोक्त बाबू साहब ने

ललितपुर प्रान्त की इन पुरानी इमारतों पर एक रिपोर्ट लिखी है और उसी के साथ १३ नक़शे और ९८ चित्र भी दिये हैं। उनको, कोई दस वर्ष हुए, गवर्नमेंट ने प्रकाशित भी कर दिया है। यह लेख लिखने में हमको उससे बड़ी सहायता मिली है।

इंडियन मिडलैंड रेलवे की जो शाखा झाँसी होकर बम्बई को गई है, ललितपुर उसी पर है। वहाँ रेलवे स्टेशन है। ललितपुर से दक्षिण, १० मील पर, एक स्टेशन जाखलौन है। वहाँ से देवगढ़ को रास्ता गया है। जाखलौन से देवगढ़ कोई ५ मील है। हम, अपने मित्रों के साथ, जाखलौन उतरे और स्टेशन-मास्टर तथा पुलिस के सब-इन्सपेक्टर की सहायता से बैलगाड़ियों पर वहाँ से देवगढ़ के लिए रवाना हुए। देवगढ़ जाने का रास्ता पहाड़ी घाटियों के बीच से है। इसलिए, यदि कुछ सामान साथ हो तो, बैलगाड़ियों के सिवा और किसी सवारी से काम नहीं चल सकता। देवगढ़ के पास पहुँचकर हमने देखा कि उसका पुराना क़िला एक पहाड़ी के ऊपर बना था। वह अब नामशेष हो गया है। क़िले की बाहरी दीवारें तक गिरकर, पहाड़ी के चारों तरफ़, ऊँचे-ऊँचे धुस्स से हो गये हैं। उनको देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि अपने समय में यह क़िला बहुत बड़ा और बहुत मज़बूत रहा होगा। पहाड़ी के ऊपर, क़िले के भीतर, गहन जङ्गल है, जिसमें रीछ, भेड़िये,

तेंदुवे और जङ्गली कुत्ते घूमा करते हैं। हिन्दुओं और जैनियों के पुराने मन्दिर इसी गहन वन के भीतर हैं। उनमें से बहुतेरे प्रायः भग्न अवस्था में हैं। क़िले के नीचे, या यों कहना चाहिए कि पहाड़ी के नीचे, बेतवा नदी की धारा ऊँची-ऊँची चट्टानों के बीच से बहती है। बरसात में जब यह नदी बढ़ती है तब चट्टानों में टक्कर खाने से भयङ्कर शोर मचाती है। नदी से थोड़ी दूर पर एक छोटा सा गाँव है। उसमें भी दो-एक पुराने मन्दिर हैं। गाँव में विशेष करके जङ्गली आदमी रहते हैं। उनका नाम सहरिया है। वे बहुधा शिकार पर, अथवा जङ्गल में पैदा होनेवाले गोंद, शहद और वन-फलों पर अपना निर्वाह करते हैं। कोई-कोई खेती भी करते हैं और कत्था बनाकर देहाती बनियों के हाथ बेंचते हैं। ये लोग बहुत असभ्य हैं। देखने में बिलकुल काले, अतएव डरावने, मालूम होते हैं। इनके सिर के बाल बढ़कर चेहरे के इधर-उधर बेतरह लटका करते हैं। इनकी कमर में एक छोटा सा चीथड़ा लिपटा रहता है। उसी में ये लोग एक हँसुवा खोंसे रहते हैं।

सहरिया लोग हिन्दुस्तान के पुराने जङ्गली आदमियों में से हैं। इनका नाम संस्कृत में शबर है। इस नाम का उल्लेख वेदों तक में पाया जाता है। महाभारत में लिखा है कि ये लोग बड़े भयानक थे; पर पाण्डवों ने इनको भी परास्त किया। वराहमिहिर ने शबरों के दो भेद लिखे हैं—

नग्न शबर और पर्ण-शबर। उस समय जो बिलकुल ही नङ्गे रहते थे वे नग्न और जो अपनी कमर में पत्ते लपेटे रहते थे वे पर्ण-शबर कहलाते थे। हज़ारों वर्ष हो गये, परन्तु इन लोगों की दशा में विशेष अन्तर नहीं हुआ। अब तक ये प्रायः दिगम्बर बने हुए जङ्गलों में घूमा करते हैं और कन्द, मूल, फल तथा मांस से किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं। अब ये लोग धनुर्बाण और भाला नहीं बाँधते। इनके शस्त्र अब कुल्हाड़ी और हँसुवा ही हैं।

देवगढ़ प्रान्त में पहले सहरियों ही का आधिपत्य था। उन पर गोंड़ लोगों ने विजय पाया। गोंड़ों के अनन्तर देवगढ़ गुप्तवंशी राजों के अधिकार में आया। स्कन्दगुप्त आदि इस वंश के राजों के कई शिलालेख अब तक देवगढ़ में विद्यमान हैं। गुप्तवंश के अनन्तर कन्नौज के भोजवंशी राजों ने इस प्रान्त को जीता। देवगढ़ में जैनियों का एक बहुत बड़ा मन्दिर है। उसके तोरण में, ८८३ ईसवी का एक लेख, राजा भोजदेव के नाम से खुदा हुआ है। भोज-वंशी राजों का प्रतापसूर्य निस्तेज होने पर, ८३१ से १५६९ ईसवी तक, चन्देलवंशी अनेक नरेशों ने इस प्रान्त को अपने अधिकार में रक्खा। ललितपुर के आस-पास इस वंश के राजों के अनेक शिलालेख पाये जाते हैं। इस वंश की राजधानी महोबा थी। इस घराने के वंशज ललितपुर के पास खजुराहो में अब तक विद्यमान हैं। चन्देलों के अनन्तर मुसलमानों का

बल बढ़ा। उनकी बलवृद्धि के साथ ही साथ प्राचीन महलों, मकानों और मन्दिरों की बरबादी की भी वृद्धि हुई। १६०० ईसवी में यह प्रदेश पुनर्वार हिन्दुओं की अधीनता में आया। बुँदेलों ने मुसलमानों से इसे छीनकर अपने अधिकार में कर लिया। आज तक इस प्रान्त में किसका कब तक प्रभुत्व रहा, इसका विवरण नीचे दिया जाता है—

शबर अर्थात् सहरिया	समय का पता नहीं।
पाण्डव	ईसा से ३००० वर्ष पहले।
गोंड़	समय अज्ञात है।
गुप्तवंश	३०० से ६०० ईसवी तक।
देववंश	८५० से ६६६ ईसवी तक।
चन्देल-वंश	१००० से १२५० ईसवी तक।
मुसलमान	१२५० से १६०० ईसवी तक।
बुन्देल-वंश	१६०० से १८५७ ईसवी तक।

यह समय-विभाग आनुमानिक है। पूर्ण बाबू ने इस अनुमान के प्रमाण भी अपनी रिपोर्ट में दिये हैं; परन्तु विस्तार कम करने की इच्छा से हम उनको यहाँ पर नहीं लिखते।

इस बात का ऐतिहासिक पता नहीं चलता कि कब, किसने, देवगढ़ को बसाया और कब, किस तरह, वह उजड़ा। लोगों का कथन है कि देवपति और खेव (क्षेव) पति नाम के दो जैन-धर्म्मावलम्बी भाई थे। उन्होंने देवगढ़ का क़िला बनवाया और शहर बसाया। जैन मन्दिर भी, जो

वहाँ पर इस समय भी विद्यमान हैं, उन्हीं ने निर्माण कराये। परन्तु इन बातों का कोई अच्छा प्रमाण नहीं मिलता।

पुरानी इमारतों के लिए देवगढ़ बहुत मशहूर है। दूर-दूर तक उसके खँड़हर चले गये हैं। इस समय वहाँ पर जो एक छोटा सा गाँव है वह पहाड़ी के नीचे है। वहीं पर गुप्तवंशी राजों का एक, और बुँदेलों का एक—ऐसे दो—मन्दिर हैं। एक तालाब भी वहाँ है। प्राचीन क़िला और शहर के भग्नावशेष पहाड़ी के ऊपर हैं। उसके दक्षिण-पश्चिम भाग में वेत्रवती (बेतवा) बड़े वेग से बहती है। जब हम लोग पहाड़ी के नीचे के अवलोकनीय स्थान देख चुके तब, ऊपर, पहाड़ी पर चढ़ने का इरादा हुआ। इसलिए पाँच-सात सहरिया पहले से ऊपर भेज दिये गये। उन्होंने बढ़ी हुई झाड़ियों को काट-छाँटकर, किसी तरह, चलने लायक़ रास्ता बनाया। फिर उन्होंने "हाँका" किया, जिसमें मन्दिरों के भीतर छिपे हुए जङ्गली जानवर यदि हों तो निकल जायँ। इसके बाद हम लोगों ने पहाड़ी पर चढ़ना शुरू किया। मार्ग बड़ा बीहड़ था। काँटेदार झाड़ियाँ इतनी घनी थीं कि बड़े कष्ट से हम लोग भीतर पहुँच सके। जङ्गल के भीतर हम लोगों ने अनेक प्राचीन मन्दिरों और मूर्तियों को देखा और जिस बली काल ने उन सबको उजाड़कर इस दशा को पहुँचाया उसे बार-बार धिक्कारा। हमारे सामने ही कई ख़रगोश और भेड़िये आहट पाकर उनके भीतर से

निकल भागे। एक जैन मन्दिर के भीतर रीछ के बाल मिले और ऐसे चिह्न दिखलाई दिये जिससे सूचित होता था कि वहाँ पर कुछ ही देर पहले एक रीछ था जो "हाँका" की आवाज़ से निकल गया था।

गुप्त-वंशी राजों के समय का यहाँ पर एक प्राचीन मन्दिर है। वह कोई एक हज़ार वर्ष का पुराना है। उसका नाम दशावतार-मन्दिर है। उसके चारों तरफ़ विष्णु के दश अवतारों की मूर्तियाँ थीं। इसी लिए उसका नाम दशावतार पड़ा। वह लाल पत्थर का बना है। उसके चारों तरफ़ पहले बरामदा था; परन्तु वह अब गिर पड़ा है। मन्दिर के द्वार पर जो काम है वह बहुत अनमोल है। उसके ऊपर गङ्गा और यमुना की मूर्तियाँ हैं; मध्य में विष्णु की मूर्ति है, जिसके ऊपर शेष अपने फनों की छाया किये हुए हैं। इसके सिवा स्त्री-पुरुषों और खर्वाकार बौनों की कई सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ हैं। यह सामने की बात हुई। शेष तीन तरफ़ विष्णु के तीन अवतारों की मूर्तियाँ हैं। एक जगह शेष पर नारायण सो रहे हैं, लक्ष्मी उनकी पाद-सेवा कर रही हैं; पञ्च पाण्डव और द्रौपदी नीचे खड़े हैं; ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि देवता ऊपर हैं। दूसरी जगह राम-लक्ष्मण की मूर्तियाँ हैं; वे जङ्गल में हिरन और सिंह आदि हिंस्र जीवों के बीच में बैठे हैं। तीसरी जगह गज को ग्राह की पकड़ से छुड़ाने के लिए गरुड़ पर सवार होकर विष्णु भगवान् आ रहे हैं। जितनी मूर्तियाँ

हैं सब अच्छी हैं। नीचे, चबूतरे की दीवारों पर भी, रामावतार से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं की सूचक कितनी ही मूर्तियाँ हैं। पहले बहुत थीं; परन्तु बिगड़ते-बिगड़ते अब कम रह गई हैं। बरामदे के चार खम्भे अभी तक बने हुए हैं। उन पर ऐसा साफ़, सुथरा और बारीक काम है कि देखकर आश्चर्य होता है। मन्दिर के शिखर का कुछ भाग गिर पड़ा है; कुछ बाक़ी है। मन्दिर के भीतर विष्णु की मूर्ति का पता नहीं; परन्तु उसकी जगह पर शिव का एक लिङ्ग रक्खा हुआ है। विष्णु की मूर्ति का आवरण मात्र शेष है। यह पुराना और प्रसिद्ध मन्दिर बुरी हालत में है। शिखर की दशा बहुत बुरी है। बरामदे का निशान तक नहीं रहा। खम्भे गिर गये हैं।

इसके पास ही बहुत पुराने जैन-मन्दिरों के कुछ चिह्न हैं। वे मन्दिर, इस समय, प्रायः बिलकुल ही नष्ट हो गये हैं।

दशावतार-मन्दिर से कुछ दूर पर एक गुफा है। उसका नाम है सिद्ध की गुफा। पहाड़ी के ऊपर, क़िले से गुफा तक, चट्टान को काटकर सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। वे अब तक बनी हुई हैं। गुफा पहाड़ी को काटकर बनाई गई है। उसमें तीन दरवाज़े हैं। गुफा के बाहर, पहाड़ी पर, महिषासुरमर्दिनी देवी की एक मूर्ति है। यहाँ पर एक शिलालेख भी छोटा सा है। यह गुफा अधबनी ही छोड़ दी गई है। यहाँ से जो सीढ़ियाँ बेतवा की तरफ़ काटी गई हैं वे भी नदी तक नहीं पहुँचीं।

इस पहाड़ी पर एक जगह है जिसे नाहर-घाटी कहते हैं। बरसात में यहाँ पहाड़ से पानी गिरा करता है। यहाँ से भी बेतवा तक पत्थर काटकर सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। वे टूट-फूट गई हैं। यहाँ कई ताक हैं, जिनमें एक सूर्य्य की मूर्ति, एक शङ्कर का लिङ्ग और सप्तमातृकाओं की मूर्तियों के कुछ चिह्न हैं। गुप्त-वंशी राजों के समय का एक शिला-लेख यहाँ पर है, उसमें कई पंक्तियाँ है, परन्तु राजा का नाम उड़ गया है।

गुप्त-काल के पीछे बना हुआ एक वराह-मन्दिर यहाँ पर था। परन्तु इस समय वह बिलकुल ही भग्न हो गया है। तथापि वराह की विशाल मूर्ति अब तक अपने स्थान पर है।

गुप्त-वंशी राजों के बाद के बने हुए मन्दिरों में एक जैन-मन्दिर, इस पहाड़ी के ऊपर, बहुत बड़ा है। उसके पास छोटे-मोटे कोई ३० मन्दिर और हैं; परन्तु उनमें एक प्रमुख है। ये सब मन्दिर अत्यन्त गहन वन के भीतर हैं। बड़े मन्दिर के चारों तरफ़ बरामदा था, परन्तु अब केवल एक ही तरफ़ रह गया है। भीतर एक बहुत बड़ी शिला-मूर्ति जैन-तीर्थङ्कर की है। छोटी-छोटी मूर्तियाँ तो कई हैं। मन्दिर के भीतरी भाग के दो खण्ड हैं। पिछले खण्ड में बहुत अँधेरा रहता है। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा है। उसमें जगह-जगह पर पत्थर की जालियाँ हैं, जिनसे प्रकाश आया करता है। इसी प्रदक्षिणा में भालु-भूप के रहने के चिह्न हमको मिले थे। यहाँ पर एक खम्भा है जिस पर, ऊपर से नीचे तक, सब

तरफ़, गुप्त समय के अक्षरों में अनेक लेख हैं। मन्दिर के सामने बड़े-बड़े दो खम्भों के ऊपर एक तोरण था। अनुमान किया जाता है कि वह महाराज भोजदेव के समय, अर्थात् ८५३ ईसवी के लगभग, बना था। पीछे से किसी ने इस तोरण में दो की जगह चार खम्भे कर दिये और उसे पेशगाह अर्थात् उसारे की शकल का कर दिया। प्रदक्षिणा के भीतर, सब कहीं, पत्थर का काम बहुत अच्छा है। शिल्प-कौशल का यह एक अद्भुत नमूना है। जगह-जगह पर इसमें ताक़ बने हुए हैं। उनमें देवी की मूर्तियाँ हैं और प्रत्येक देवी का नाम पुराने नागरी अक्षरों में उसके नीचे खुदा हुआ है।

चन्देल-राजों में एक राजा कीर्तिवर्म्मा हुआ है। उसका समय १०४९ से ११०० ईसवी तक है। उसके मन्त्री वत्सराज ने देवगढ़ में राज-घाटी नामक सीढ़ियों का एक समूह, क़िले से बेतवा तक, बनवाया था। राज-घाटी में कीर्तिवर्म्मा के समय, अर्थात् संवत् ११५६, का एक लम्बा शिला-लेख है। उससे सूचित होता है कि वत्सराज ने देवगढ़ के क़िले की मरम्मत कराकर उसका नाम कीर्तिगिरि-दुर्ग रक्खा था। क़िले की दीवार १५ फ़ुट मोटी है। उसमें जगह-जगह पर बुर्जें बनी हुई हैं और तीरों की वर्षा के लिए दीवारों में छेद हैं। राजघाटी की दाहिनी तरफ़ सप्त-मातृका, महादेव और सूर्य्य की मूर्तियाँ हैं।

इन सब इमारतों में दशावतार के मन्दिर का काम विशेष प्रशंसा के योग्य है। उसके प्रवेश-द्वार पर कला-कौशल

के ऐसे अनेक नमूने हैं जिनको देखकर देखनेवाले की बुद्धि चक्कर खाने लगती है। उनका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता; न उनके नक़शों और चित्रों से उनकी सुन्दरता का पूरा-पूरा अनुमान हो सकता है। उनको प्रत्यक्ष ही देखना चाहिए। पशु, पक्षी, फूल, पत्ती, देव, देवी और मनुष्य की मूर्तियाँ इस कौशल से बनाई गई हैं कि उनको देखकर उनके बनानेवालों की सहस्र मुख से प्रशंसा करने को जी चाहता है।

पहाड़ी के ऊपर, क़िले में, अनेक टूटी-फूटी मूर्तियों और मन्दिरों इत्यादि के अंश इधर-उधर पड़े हैं। वे इस बात को सूचित करते हैं कि किसी समय अनन्त मन्दिर, मकान और राज-प्रासाद इस शहर की शोभा बढ़ाते थे। परन्तु, अफ़सोस है, वहीं आज जङ्गली जानवरों का वास है और जङ्गल इतना घना हो गया है कि मनुष्य का प्रवेश मुशकिल से होता है।

देवगढ़ में कई शिला-लेख हैं। सिद्ध की गुफा, नाहर-घाटी, राज-घाटी और जैन-मन्दिर के लेखों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके सिवा और भी छोटे-बड़े कई शिला-लेख हैं। पूर्ण बाबू ने उन सबकी नक़ल ले ली थी। उनको उन्होंने अपनी एक दूसरी रिपोर्ट में शामिल करके गवर्नमेन्ट को भेजा था। मालूम नहीं, गवर्नमेन्ट ने उनको प्रकाशित किया या नहीं।

[अप्रेल १९०९

७—ओङ्कार-मान्धाता

मध्य-प्रदेश में एक ज़िला नीमार है। इस ज़िले का सदर-मुक़ाम खण्डवा है। वहीं ज़िले के हाकिम रहते हैं। खण्डवा से इन्दौर होती हुई राजपूताना-मालवा रेलवे की एक शाख़ अजमेर को जाती है। इस शाख़ पर मोरटक्का नाम का एक स्टेशन है। वह खण्डवा से ३७ मील है। इस स्टेशन से ७ मील दूर, नर्म्मदा के ऊपर, मान्धाता नाम का गाँव है। मोरटक्का के आगे बरवाहा स्टेशन है। वहाँ से भी लोग मान्धाता जाते हैं। इस गाँव का कुछ भाग नर्म्मदा के दक्षिणी किनारे पर है और कुछ नदी के बीच में एक टापू के ऊपर है। यह टापू कोई डेढ़ मील लम्बा है। इस पर ऊँची-ऊँची दो पहाड़ियाँ हैं। ये पहाड़ियाँ उत्तर-दक्षिण हैं। उनके बीच की ज़मीन ख़ाली है। पूर्व की तरफ़ ये दोनों पहाड़ियाँ एक दूसरी से मिल गई हैं और उनके कगार नर्म्मदा के भीतर तक चले गये हैं। दक्षिण की तरफ़ जो पहाड़ी है उसके दक्षिणी सिरे पर मान्धाता का जो भाग बसा हुआ है वह बहुत ही सुन्दर है। उसके मकान, मन्दिर और दूकानों की लैनें देखकर तबीयत ख़ुश हो जाती है। महाराजा होलकर का महल सबसे ऊँचा और सबसे अधिक शोभायमान है। पहाड़ी के ऊँचे-नीचे सिरे तराशकर चौरस कर दिये गये हैं; उन्हीं

पर मकान बने हुए हैं। जिस पहाड़ी पर मान्धाता है उस पर, गाँव से कुछ दूर, घना जङ्गल है। उस जङ्गल के भीतर प्राचीन इमारतों के चिह्न दूर-दूर तक पाये जाते हैं। कौस्यन्स साहब ने मध्य-प्रदेश की प्राचीन इमारतों पर एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने अपनी राय दी है कि किसी समय, इस पहाड़ी पर, मान्धाता की वर्तमान बस्ती से बहुत बड़ी बस्ती थी।

नर्म्मदा का बड़ा माहात्म्य है। गङ्गा से उतरकर नर्म्मदा ही का नम्बर है। अनेक साधु-संन्यासी नर्म्मदा की प्रदक्षिणा करते हैं। भड़ौंच के पास नर्म्मदा समुद्र में गिरी है। वहीं से ये लोग नर्म्मदा के किनारे-किनारे अमरकण्टक तक चले जाते हैं और फिर वहाँ से ये दूसरे किनारे से भड़ौंच को लौट जाते हैं। इस प्रदक्षिणा में कोई तीन वर्ष लगते हैं। मान्धाता में प्रदक्षिणा करनेवाले इन साधुओं की बड़ी भीड़ रहती है। जाते भी ये वहाँ ठहरते हैं और लौटते भी।

नर्म्मदा के बीच में जो टापू है वह भी पर्वतप्राय है। उस पर अनेक फाटकों, मन्दिरों, मठों और मकानों के निशान हैं। दो-एक मन्दिरों को छोड़कर शेष सब इमारतें उजड़ी और आधी उजड़ी हुई दशा में पड़ी हैं। कहीं-कहीं पर क़िले की दीवार के भी चिह्न हैं। मान्धाता के वर्त्तमान नगर से यह उजाड़ नगर बिलकुल अलग है। इसमें एक-आध विशाल मन्दिर और मकान अब तक बने हुए हैं; और वे देखने लायक़ हैं।

मान्धाता में ओङ्कारजी का प्रसिद्ध मन्दिर है। उसकी गिनती शिव के द्वादश लिङ्गों में है। दूर-दूर से लोग वहाँ यात्रा के लिए आते हैं। ओङ्कारजी का मन्दिर बहुत प्राचीन नहीं; परन्तु उसके विशाल पाये बहुत पुराने हैं। वे किसी दूसरे मन्दिर के हैं। उसके भग्न हो जाने पर ये स्तम्भ इस मन्दिर में लगाये गये हैं। पुरातत्त्व के पण्डितों का अनुमान ऐसा ही है। इस मन्दिर में एक विचित्रता है। इसमें जो शिवलिङ्ग है वह दरवाज़े के सामने नहीं है। इससे वह सामने से देख नहीं पड़ता। वह गर्भ-गृह के एक तरफ़ है। इस कारण, बरामदे के सबसे दूरवर्ती कोने पर गये बिना, लिङ्ग के दर्शन बाहर से नहीं हो सकते।

मान्धाता में पहाड़ की चोटी पर सिद्धनाथ अथवा सिद्धेश्वर का एक मन्दिर है। वह सबसे अधिक पुराना है। परन्तु वह, इस समय, उजाड़ दशा में पड़ा हुआ है। वह एक ऊँचे चबूतरे पर बना हुआ है। उसके पायों को, चारों तरफ़, पत्थर के बड़े-बड़े हाथी थामे हुए हैं। उनमें से दो हाथी नागपुर के अजायबघर में पहुँच गये हैं। वहाँ, दरवाज़े पर खड़े हुए, वे चौकीदारी का काम कर रहे हैं। इस मन्दिर का गर्भ-गृह अब तक बना हुआ है। उसमें चार दरवाज़े हैं। शिखर गिर गया है। ओसारे की छत भी गिर गई है। जो भाग इस मन्दिर का शेष है उस पर बहुत अच्छा काम है। जिस समय यह मन्दिर अच्छी दशा में रहा होगा उस समय इसकी शोभा वर्णन करने लायक़ रही होगी।

नर्म्मदा के बायें तट पर कई पुराने मन्दिर हैं। यद्यपि उन मन्दिरों की महिमा, इस समय, कम हो गई है, तथापि जो लोग ओङ्कारजी को जाते हैं वे इनके भी दर्शन करते हैं। जिनको पुरानी वस्तुओं से प्रेम है उनको तो इन्हें अवश्य ही देखना चाहिए।

गौरी-सोमनाथ के मन्दिर के सामने एक प्रकाण्ड नन्दी है। हरे पत्थर को काटकर उसकी मूर्ति बनाई गई है।

मान्धाता में नर्म्मदा के तट पर बने हुए घाटों की शोभा को देखकर चित्त बहुत प्रसन्न होता है।

सुनने में आता है कि १०२४ ईसवी में जब महमूद ग़ज़नवी ने सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ा तब मान्धाता में ओङ्कारजी के मन्दिर के सिवा अमरेश्वर नामक महादेव का भी एक मन्दिर था। उसकी भी गिनती द्वादश लिङ्गों में थी। परन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की लड़ाइयों में नर्म्मदा का दक्षिणी तट, जहाँ पर ये दोनों मन्दिर थे, बिलकुल उजाड़ हो गया। उस पर इतना घना जङ्गल हो आया कि जब पेशवा ने ओङ्कारजी के मन्दिर की मरम्मत करानी चाही तब वह, बहुत ढूँढ़ने पर भी, न मिला। इससे उसने एक नया ही मन्दिर बनवाकर उसका नाम ओङ्कारजी रख दिया। पीछे से राजा मान्धाता को ओङ्कारजी का पुराना मन्दिर मिला और उसने उसकी मरम्मत भी कराई। परन्तु पेशवा के बनवाये हुए मन्दिर का तब तक इतना नाम हो गया था कि लोगों ने

असल की अपेक्षा उस नक़ली मन्दिर ही की अधिक प्रतिष्ठा की। इसी से उस मन्दिर की प्रधानता रही।

ठाकुर जगमोहनसिंह ने, जिस समय वे खण्डवा में तहसीलदार थे, ओङ्कारचन्द्रिका नामक एक पद्यबद्ध छोटी सी पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने ओङ्कारजी का अच्छा वर्णन किया है।

[जनवरी १९०५

८—श्रीरङ्गपत्तन

श्रीरङ्गपत्तन बहुत प्राचीन नगर है। इस समय वह प्रायः उजाड़ पड़ा है। परन्तु एक समय वह विशेष वैभवशाली था। जिस समय वहाँ हैदर अली और टीपू की राजधानी थी उस समय उसमें अनेक ऐसी बातें हुई हैं जिन्होंने दक्षिण के इतिहास के सैकड़ों पृष्ठों को व्याप्त कर लिया है।

श्रीरङ्गपत्तन माइसोर-राज्य में है। वहाँ जाने के दो मार्ग हैं। एक जबलपुर या इटारसी होकर मन्माड़, धोंड, होटगी, रायचूर, आरकोनम, और बँगलोर के रास्ते; दूसरा होटगी से सीधे बँगलोर के रास्ते। पीछेवाला मार्ग सीधा है; परन्तु इधर से जाने में होटगी से छोटी पटरी की रेलवे लाइन होकर जाना पड़ता है। इसलिए जानेवाला देर से पहुँचता है।

कावेरी नदी में एक छोटा सा द्वीप है। श्रीरङ्गपत्तन उसके पश्चिमी किनारे पर है। उसकी आबादी इस समय कोई १५,००० है। वहाँ श्रीरङ्गजी का एक मन्दिर है। उसी के नाम पर इसका नाम श्रीरङ्गपत्तन पड़ा है। इस मन्दिर में विष्णु की मूर्ति है। यह मन्दिर बहुत प्राचीन है। श्रीरङ्ग-पत्तन से यह बहुत पहले का है। प्राचीन होने के कारण इसमें स्थापित मूर्ति का नाम आदि-रङ्ग है। यह मन्दिर क़िले के भीतर है। किंवदन्ती है कि गौतम मुनि ने इस मन्दिर में

बहुत दिन तक भजन-पूजन किया था। एशियाटिक सोसा-यटी के जरनल के आठवें खण्ड में अध्यापक डौसन ने, एक तामील लेख के आधार पर, लिखा है कि ८९४ ईसवी में त्रिमल्लयान नामक एक पुरुष ने इस मन्दिर को बनवाकर श्रीरङ्ग की मूर्ति इसमें स्थापित की तब से इस जगह का नाम श्रीरङ्गपत्तन हुआ।

११३३ ईसवी में रामानुजाचार्य को चोलराज ने बहुत तङ्ग किया। तब वे वहाँ से माइसोर को चले आये। माइसोर में वल्लाल-वंश के जैन मतानुयायी विष्णुवर्द्धन नामक राजा को उन्होंने वैष्णव बनाया। उस राजा ने रामानुज को आठ गाँव दिये; उनमें से श्रीरङ्गपत्तन भी एक था।

१४५४ ईसवी में हेबर तिमाना नामक सूबेदार ने विजय-नगर के राजा से श्रीरङ्गपत्तन को ले लिया और वहाँ एक क़िला बनवाया। उसने, पास ही कलशवाड़ी स्थान के १०१ जैन-मन्दिरों को तोड़कर उनके ईंट-पत्थर से श्रीरङ्ग के मन्दिर को और भी बढ़ाया। हेबर तिमाना के अनन्तर और कई सूबेदार श्रीरङ्गपत्तन में हुए। अन्तिम सूबेदार का नाम त्रिमल्ल-राज था। १६१० ईसवी में उसने श्रीरङ्गपत्तन का अधिकार माइसोर के बड़यार राजा को दे दिया। तब से यह स्थान माइसोर की राजधानी हुआ। माइसोर के नरेशों का प्रभुत्व जब क्षीण हुआ तब हैदर अली और टीपू ने इसे अपनी राजधानी बनाया। ४ मई १७९९ ईसवी को अँगरेज़ों ने

इस स्थान को अपने अधिकार में कर लिया। श्रीरङ्गपत्तन के क़िले के लेने में जो नरहत्या हुई वह इतिहासज्ञों पर विदित ही है।

श्रीरङ्गपत्तन में श्रीरङ्गजी के मन्दिर के सिवा एक और मन्दिर है। उसका नाम रामस्वामी का मन्दिर है। श्रीरङ्गजी का मन्दिर प्राचीनता और रामस्वामी का मन्दिर भव्यता के लिए प्रसिद्ध है।

यहाँ पर जो क़िला है वह बहुत मज़बूत है। उसके तीन तरफ़ नदी है। इस क़िले में टीपू सुलतान और अँग-रेज़ों में भीषण संग्राम हुआ था। टीपू स्वयं बड़ा बहादुर था। वह स्वयं मोरचों पर हाज़िर रहता और अपनी फ़ौज को बराबर उत्साहित करता था। परन्तु अँगरेज़ी सेना के वेग को वे लोग नहीं सह सके। उनके पैर उखड़ गये। टीपू की फ़ौज का कुछ हिस्सा क़िले की दीवारों पर से नीचे कूदकर भागने लगा। इस कूदने में हज़ारों आदमियों की जानें गईं। जो मरे भी नहीं थे उनके हाथ-पैर टूट गये। इस युद्ध में टीपू का घोड़ा गोली लगने से मारा गया। तिस पर भी टीपू ने बहुत देर तक युद्ध किया। आख़िर को उसका पतन हुआ। परन्तु उसको उस वक्त अँगरेज़ी फ़ौज ने नहीं पहचाना। वह एक सामान्य योद्धा की तरह युद्ध करता रहा। जब उसकी लाश मिली तब मालूम हुआ कि उसकी बाँह में सङ्गीन का एक बड़ा घाव था।

१७८० से १७८५ ईसवी तक टीपू ने कर्नल बेली और कई और अँगरेज़ अफ़सरों को इस क़िले के उत्तरी भाग में क़ैद कर रक्खा था। जहाँ ये लोग क़ैद थे वह जगह अभी तक स्मारक के तौर पर वैसी ही बनी है।

क़िले के भीतर जितने मकान थे प्रायः सब गिरा दिये गये हैं। जो हैं भी वे बहुत बुरी हालत में हैं। यहाँ का जल-वायु बहुत ख़राब है। एक सप्ताह भी रहने से बुख़ार आये बिना नहीं रहता।

मृत्यु से कुछ समय पहले टीपू ने श्रीरङ्गपत्तन में एक जुमामसजिद बनवाई थी। यह अभी तक अच्छी हालत में है। इसकी इमारत भी अच्छी है। इसके मीनारों पर चढ़कर देखने से शहर और आसपास का दृश्य अच्छी तरह देख पड़ता है।

टीपू सुलतान का महल भी क़िले के भीतर है। उसका कुछ भाग गिरा दिया गया है और कुछ में चन्दन की लकड़ी का गोदाम है। यह महल टीपू के समय में बहुत बड़ा था। टीपू के रहने के स्थान का रास्ता बहुत तङ्ग था। उस रास्ते में चार जगह पर चार शेर ज़ञ्जीरों से बँधे रहते थे। बीच में एक दीवानख़ाना था। उसी में बैठकर टीपू लिखता-पढ़ता था। वहाँ उसके दीवान मीर सादिक़ के सिवा और कोई नहीं जाने पाता था। टीपू के सोने का कमरा बहुत मज़बूती से बन्द रहता था।

टीपू डरा करता था कि पलँग पर सोते समय खिड़कियों के रास्ते कोई उसे गोली न मार दे। इसलिए वह एक झूले पर सोता था। यह झूला ज़ञ्जीरों के द्वारा छत से लटका करता था और खिड़कियों से न देख पड़ता था। इस झूले पर एक नङ्गी तलवार और दो भरे हुए तमञ्चे हमेशा रक्खे रहते थे। इस सोने के कमरे में एक और दरवाज़ा था। वह टीपू के हरम से मिला हुआ था। हरम में सब ६०० स्त्रियाँ थीं। उनमें से ८० तो टीपू की बीबियाँ थीं; शेष लौंड़ियाँ वग़ैरह थीं।

क़िले के बाहर टीपू का दरियाय-दौलत नाम का एक महल है। यह एक बाग़ के बीच में है। गरमी के दिनों में टीपू साहब यहीं तशरीफ़ रखते थे। यह बहुत सुन्दर इमारत है। इसमें रङ्ग का काम बहुत ही मनोहर है। १७८० ईसवी में हैदर अलीने अँगरेज़ों की एक बहुत बड़ी सेना को परास्त किया था। यह लड़ाई काञ्जीवरम के पास हुई थी। अँगरेज़ी सेना के नायक कर्नल बेली थे। इस लड़ाई में हैदर की जो जीत हुई थी उसका चित्र इस महल की पश्चिमी दीवार पर चित्रित था। इसका रङ्ग उतर गया था। इसलिए जब श्रीरङ्गपत्तन अँगरेज़ों के हाथ आया तब कर्नल बेलेज़्ली ने फ़िर इसे नया करवाया। वे कुछ दिन तक इस महल में रहे भी थे। एक बार यह चित्रावली सफ़ेदी करते समय धो गई थी। परन्तु जब लार्ड डलहौसी माइसोर गये तब उन्होंने फिर से इसे रँगाया।

कुछ दूर पर लाल बाग़ नाम का एक बाग़ीचा है। उसमें हैदर और टीपू की क़बरें हैं। इस मक़बरे के किवाड़े हाथी-दाँत से खचित हैं। उन्हें लार्ड डलहौसी ने दिया था। इसकी सफ़ाई और देख-भाल गवर्नमेंट के ख़र्च से होती है। टीपू की क़बर पर एक लेख, पद्य में, है। उसमें उसकी मृत्यु की तिथि वग़ैरह लिखी है। इसी लाल बाग़ में कर्नल बेली का भी एक छोटा सा सादा स्मारक है। टीपू की क़ैद में, १७८२ ईसवी में, वहीं उनकी मृत्यु हुई।

यदि किसी को श्रीरङ्गपत्तन देखने का अवसर हाथ लगे तो उसको कावेरी का प्रपात अवश्य देखना चाहिए। श्रीरङ्ग-पत्तन से ३३ मील पर मदूर नाम का स्टेशन है। वहाँ से कावेरी का प्रपात कोई २५ मील है। वहाँ गाड़ी पर जाना होता है; रेल नहीं है।

कावेरी में कई टापू हैं। श्रीरङ्गपत्तन भी टापू है। एक टापू और है, उसका नाम है शिवसमुद्रम्। इसी शिवसमुद्रम् के पास कावेरी का प्रपात है। माइसोर राज्य में कावेरी की चौड़ाई सिर्फ़ ३०० से ४०० गज़ तक है। परन्तु जहाँ काबनी नामक नदी उसमें आ मिलती है वहाँ से उसकी चौड़ाई बहुत अधिक हो जाती है; और, साथ ही, उसका वेग भी बहुत बढ़ जाता है। शिवसमुद्रम् के पास कावेरी बहुत ही विकराल रूप धारण करती है। वहाँ, बाढ़ के समय, प्रति सेकण्ड २, ३९, ०००, घन फ़ुट पानी उससे गिरता है। जहाँ

होकर वह बहती है वहाँ की भूमि विशेष करके पथरीली है। कहीं-कहीं पर तो बीच में बड़ी-बड़ी चट्टानें आ गई हैं। इसलिए उसके वेग, उसके नाद और उसके प्रवाह ने और भी भयङ्कर रूप धारण किया है।

शिवसमुद्रम् नामक टापू तीन मील लम्बा और दो मील चौड़ा है। उसके एक तरफ़ कावेरी की एक और दूसरी तरफ़ दूसरी धारा है। जहाँ से उसकी दो धारायें होती हैं वहाँ से लेकर उनके सङ्गम की जगह तक का अन्तर ३०० फ़ुट है। जहाँ ये दो धारायें पृथक् हुई हैं वहाँ से कुछ दूर पर प्रपात है। एक प्रपात पश्चिमी धारा का है, दूसरा दक्षिणी धारा का। प्रपात की जगह पर्वत की उँचाई २०० फ़ुट है। इसी उँचाई से कावेरी की धारायें धड़ाधड़ नीचे गिरती हैं। वर्षा ऋतु में इस नदी की धारायें $\frac{3}{4}$ मील चौड़ी हो जाती हैं। उस समय पानी की इतनी चौड़ी दो धारायें २०० फ़ुट ऊँचे से प्रलय-काल का सा गर्जन करती हुई नीचे आती हैं। जहाँ पर दक्षिणी धारा गिरती है वहाँ घोड़े की नाल के आकार का एक पातालगामी खड्ड है। उसके भीतर वह धारा हाहाकार करती हुई प्रवेश कर जाती है। वहाँ से वह फिर निकलती है और एक बहुत तङ्ग पहाड़ी रास्ते से होकर कोई ३० फ़ुट की उँचाई से दुबारा एक अन्य खड्ड में गिरती है। कुछ दूर में दोनों धारायें फिर मिल जाती हैं और एक रूप होकर बड़े वेग से पूर्व की ओर जाती हैं।

गरमी के मौसम में कावेरी के छोटे-छोटे कोई १४ प्रपात हो जाते हैं। इसलिए उस समय उनकी शोभा क्षीण हो जाती है। उनकी विशालता और भयङ्करता वर्षा ऋतु ही में देखने लायक़ होती है। अतएव जो लोग इन प्रपातों को देखने जाते हैं वे बहुधा वर्षा-ऋतु ही में जाते हैं।

[सितम्बर १९०४

६—श्रीरङ्गजी का मन्दिर

मदरास-प्रान्त में त्रिचनापल्ली नामक एक प्रसिद्ध नगर, कावेरी-नदी के तट पर, बसा हुआ है। नदी के उस पार, लगभग एक मील की दूरी पर, उत्तर-पश्चिम की ओर, श्रीरङ्गजी का एक विशाल और बहुत प्राचीन मन्दिर है। यह मन्दिर भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों में से है। यह इतना बड़ा है कि भारत का सबसे बड़ा मन्दिर कहा जा सकता है। मन्दिर ही के कारण नदी के उस पार आबादी भी बहुत बढ़ गई है। इस आबादी ने अब एक छोटे से नगर का रूप धारण किया है। इसका नाम भी मन्दिर के नामानुसार श्रीरङ्गम पड़ गया है। त्रिचनापल्ली और श्रीरङ्गम के बीच में, कावेरी-नदी के ऊपर, बत्तीस मिहराबों का एक पुल बना हुआ है। उसी पर से होकर यात्री लोग श्रीरङ्गजी के दर्शन करने जाते हैं।

मन्दिर, अर्थात् देवस्थान, एक-एक करके सात परकोटों के भीतर है। सबसे बाहर का कोट लगभग २,८८० फ़ोट लम्बा और २,४७५ फ़ोट चौड़ा है। उसमें पक्की सड़कें बनी हुई हैं और एक बाज़ार भी है। इस कोट में, दक्षिण की ओर, एक बड़ा फाटक है जो ४८ फ़ीट ऊँचा और १०० फ़ीट चौड़ा है। इसी फाटक से लोग त्रिचनापल्ली आते-जाते हैं। फाटक में कई बड़ी-बड़ी शिलायें सीधी खड़ी हैं। उनमें से कोई-कोई

४० फ़ीट से भी अधिक ऊँची है। उनसे बहुत करके फाटक बनाने में सहायता ली गई होगी। फाटक की छत में भी बड़ी-बड़ी शिलायें लगी हैं। फाटक की छत पर चढ़ने से बाहरी कोट और उसके अन्तर्गत सब बाग़-बाग़ीचे और घर आदि का सारा दृश्य नेत्रों के सम्मुख आ जाता है। फाटक से थोड़ी ही दूर पर कावेरी-नदी की एक शाखा बहती है। इस कोट में कुछ आबादी भी है।

सातवें कोट के भीतर छठा कोट है और छठे के भीतर पाँचवाँ। इसी प्रकार सब एक दूसरे के भीतर हैं। अन्त के कोट में श्रीरङ्गजी का मन्दिर है। इन सब कोटों में एक ख़ास बात यह है कि प्रत्येक भीतरी कोट की इमारतें अपने-अपने बाहरी कोटों की इमारतों से आकार में छोटी होती चली गई हैं।

छठे कोट में मन्दिर के पुजारी और कुछ अन्य ब्राह्मण रहते हैं। इस कोट में दो बड़े गोपुर पूर्व में, दो छोटे पश्चिम में, और तीन मझोले दक्षिण में बने हुए हैं। सब गोपुरों की छतों में रङ्गीन चित्रकारी है। उनका रङ्ग अभो तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। ये चित्र देवी-देवताओं के हैं। चित्रों में उपासक लोग उपासना करते हुए भी दिखलाये गये हैं।

पाँचवें कोट में केवल ब्राह्मणों की आबादी है। चौथे में बहुत से बड़े-बड़े मण्डप हैं। एक मण्डप में मूर्तियों के बहु-मूल्य आभूषण रक्खे रहते हैं। इन आभूषणों में बहुमूल्य

रत्न जड़े हुए हैं, जिनकी क़ीमत कोई एक लाख रुपये से कम न होगी। एक मण्डप हज़ार खम्भे का मण्डप कहलाता है; परन्तु उसमें इस समय केवल ९६० खम्भे हैं। इस मण्डप में ६० क़तारें हैं और हर क़तार में सोलह-सोलह खम्भे हैं। प्रत्येक खम्भा १८ फ़ीट ऊँचा है। हर खम्भे में चित्र बने हुए हैं। चित्र सवारों के हैं। मालूम होता है, मानो सवार अपने घोड़ों को आखेट-सम्बन्धी परिश्रम के अभ्यासी बनने की शिक्षा दे रहा है। इसी कोट में, उत्तर की ओर, एक बड़ा गोपुर है, जो १५२ फ़ीट ऊँचा है। इस गोपुर के नीचे, रास्ते में, एक पत्थर है जिस पर कनारी-भाषा में एक लेख खुदा हुआ है। यह गोपुर टूटा-फूटा है। इसके ऊपर दो ही चार आदमी चढ़ने से यह हिलने लगता है।

तीसरे कोट में कोई ख़ास बात नहीं। दूसरे कोट में बहुत सी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं।

पहले अर्थात् सबसे भीतरवाले कोट में श्रीरङ्गजी का मन्दिर है। मन्दिर का कलश सोने का है। श्रीरङ्गजी की मूर्ति एक कोठरी में स्थापित है। कोठरी के पट नियमित समय पर खुलते हैं। उस समय दर्शकों की बड़ी भीड़ रहती है। प्रत्येक वर्ष, जाड़े के दिनों में, वहाँ एक बड़ा मेला लगता है।

अँगरेज़ इञ्जीनियरों का मत है कि यह मन्दिर अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में बनाया गया होगा। यह मन्दिर चाहे जब बना हो, पर यह देवस्थान है बहुत पुराना। क्योंकि इसका

उल्लेख मत्स्य और पद्मपुराण, श्रीमद्भागवत, और वाल्मीकि-रामायण तक में पाया जाता है। बलराम की तीर्थयात्रा के प्रकरण में श्रीमद्भागवत में लिखा है कि सप्तगोदावरी, पम्पा, श्रीशैल आदि के दर्शन करके बलरामजी काञ्ची और श्रीरङ्गम के मन्दिर की यात्रा भी करने गये थे—

कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीकावेरीञ्च सरिद्वराम्।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः॥

[फ़रवरी १९१३

१०—क़ुतुब-मीनार

देहली का प्रसिद्ध क़ुतुब-मीनार पृथ्वीराज का बनाया हुआ है या क़ुतुबुद्दीन ऐबक़ का, इसके निश्चय की आवश्यकता है। देहली में हमने इस मीनार को स्वयं देखा है और जिन लोगों ने इसके विषय में लिखा है उनके लेख भी, जहाँ तक हमको मिल सके, हमने पढ़े हैं।

सर सैयद अहमद ख़ाँ ने आसारुस्सनादीद नाम की एक किताब लिखी है। उसमें उन्होंने देहली की प्राचीन इमारतों और वहाँ के प्राचीन शिलालेखों का वर्णन किया है। सैयद साहब का मत है कि यह मीनार आदि में हिन्दुओं का था। इस विषय में एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में भी कई विद्वानों ने कई लेख लिखे हैं। परन्तु पुरातत्त्व के सम्बन्ध में जनरल कनिंहम की सम्मति बहुत प्रामाण्य मानी जाती है। उन्होंने "आरकिओलाजिकल रिपोर्ट्स्" के पहले भाग में क़ुतुब-मीनार से हिन्दुओं का कोई सम्बन्ध न बतलाकर उसे ख़ालिस मुसलमानी इमारत बतलाई है। इसके सिवा यडवर्ड टामस ने अपनी "पठान किंग्ज़ आफ़ देहली" नाम की किताब में जनरल कनिंहम के मत को पुष्ट किया है। टामस साहब बंगाल, लंदन और पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी के सभासद् थे। उन्होंने पुरातत्त्व-सम्बन्धी सैकड़ों निबन्ध इन सोसाइटियों

के जरनलों में प्रकाशित किये हैं। कई पुस्तकें भी इन विषयों पर उन्होंने लिखी हैं। देहली के पठान बादशाहों पर जो किताब उन्होंने लिखी है वह ऐतिहासिक तत्त्वों से भरी हुई है। टामस साहब की विद्वत्ता, गवेषणा और श्रम का विचार करके आश्चर्य होता है। क़ुतुब-मीनार के विषय में उन्होंने जो मत प्रकाशित किया है उसे हम थोड़े में यहाँ पर लिखते हैं।

पृथ्वीराज का पराभव करनेवाले और उसके साथ ही हिन्दू-साम्राज्य का सर्वदा के लिए अन्त करनेवाले मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद बिन साम के नाम से पाठक अवश्य ही परिचित होंगे। वह ग़ोर देश से यहाँ आया था। इसलिए यहाँ वह मुहम्मद ग़ोरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। क़ुतुब-मीनार के नीचे के खण्ड में कई लेख हैं जिनमें उसका नाम है। उनमें से एक यह है—

السلطان المعظم شہنشاہ الاعظم مالک رقاب اللمم
مولئے ملوک العرب والعجم سلطان السلاطین فیی العالم
غیات الدنیا والدین.....ابوالمظفر محمد بن سام قسیم
امیر المومنین خلد الاه ملکه

अक्षरान्तर—

अस्सुल्तानुलमुअज़्ज़म, शहनशाहउलआज़म, मालिके रक़ाबुल-उमम, मौलाये मलूकुल अरब व उल-अजम, सुल्तानुस्सलातीन फ़िल आलम, ग़यासुद्दुनिया व दीन × × × × अबुलमुज़फ़्फ़र मुहम्मद बिन साम क़सीम अमीरुलमोमनीन ख़ुल्द अल्लाह मुल्कहू।

इस अवतरण में जहाँ पर हमने तारकाकार चिह्न दिये हैं वहाँ की कई पंक्तियाँ हमने छोड़ दी हैं। उनमें मुहम्मद बिन साम की प्रशंसा में अपूर्व-अपूर्व विशेषणवाली वैसी ही उपाधियाँ हैं जैसी कि इन पंक्तियों में हैं। "आप इस समय दुनिया भर के सुल्तानों के सुल्तान हैं; आप दीन और दुनिया दोनों के दीपक हैं; आप अरब और अजम के भी मालिक हैं"—इसी प्रकार की तारीफ़ उनमें भरी है। मुहम्मद बिन साम के नाम और उसकी प्रशंसा को छोड़कर उसमें यह नहीं लिखा कि क्यों और किस प्रकार यह मीनार बनाया गया।

क़ुतुब-मीनार के पास ही क़ुतुबुद्दीन की जो मसजिद है उसके पूर्वी दरवाज़े के नीचे जो लेख है उसकी दूसरी पंक्ति देखिए—

این حصار را فتح کرد و این مسجد جامع را به
ساخت بتاریخ في شهور سنه سبع و سمانین و خمسمایت
امیر اسفه سالار اجل کبیر قطب الدوله والدین امیر
الامرا ایبک سلطانین اعذالاه انصاره و بست و هفت
آلت بتخانه که در هر بتخانه دو بار هزار دلیوال
صرف شده بود درین مسجد بکار بسته شده است خدای
عزوجل بران بنده رحمت کناد هر که بر نیت باني خیر
دعا به ایمان گوید—

अक्षरान्तर—

ईं हिसार रा फ़तेह कर्द व ईं मसजिद जामै रा बिसाख़्त ब-तारीख़ फ़ी शहूर सन सबआ व समानीन व ख़मसमायत

अमीर असफ़हसालार अजल कबीर क़ुतुबुद्दौला व दीन अमीरुल् उमरा ऐबके सुल्तानी आज़ुल्ला इन्सारहू। व बिस्त व हफ्त् आलते बुतख़ाना के दर हर बुतख़ाना दो बार हज़ार दिलेवाल सर्फ़ शुदा बूद दरीं मसजिद बकार बस्ता शुदा अस्त। ख़ोदाये अज़ व जल बराँ बन्दा रहमत कुनाद हरके बरनीयते बानी ख़ैरदोआये ईमान गोयद।

भावार्थ—

दीन और दौलत के केन्द्र, अमीरों के अमीर, सुल्तान ऐबक ने, ५८७ हिजरी (११९१ ई०) में इस क़िले को जीता और इस जामे मसजिद को बनवाया। इस मसजिद की इमारत में २७ मन्दिर तोड़कर उनका माल-मसाला काम में लाया गया है। इन मन्दिरों में एक-एक मन्दिर के बनवाने में बीस-बीस लाख दिलेवाल (एक प्रकार का सिक्का) ख़र्च हुए थे। जिसने इसकी नींव डाली है, अर्थात् जिसने इसे बनवाया है, उसे जो आशीर्वाद देगा उसका ईश्वर कल्याण करेगा।

मुहम्मद बिन साम ने पृथ्वीराज से पहले हार खाई थी। जब उसने पृथ्वीराज पर विजय-प्राप्ति की और उससे देहली का सिंहासन छीन लिया तब उसे परमावधि का आनन्द हुआ। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने यह मीनार बनवाया। देहली विजय करके वह स्वदेश को लौट गया और यहाँ पर क़ुतुबुद्दीन को गवर्नर बनाकर छोड़ गया। क़ुतुबुद्दीन ने यह मीनार अपने मालिक के विजय की यादगार में बनवाया और उसका

नाम, कई जगहों पर, उसकी प्रशंसापूर्ण उपाधियों के साथ, इस पर खुदवाया। यह मीनार .कुतुबुद्दीन ही ने बनवाया; इसलिए वह उसी के नाम से प्रसिद्ध है; मुहम्मद बिन साम के नाम से नहीं। १८६२-६३ की आरकिओलाजिकल रिपोर्ट में जेनरल कनिंहम ने जो यह सिद्धान्त निकाला है कि यह स्वतन्त्र मुसलमानी इमारत है; पृथ्वीराज अथवा किसी और की प्राचीन इमारत पर या उसको तोड़कर, यह नहीं बनाई गई, वह बहुत ठीक है। यह मीनार और इसके पास ही .कुतुब की मसजिद दोनों एक ही समय की इमारतें हैं। ये दोनों ५८७ हिजरी अर्थात् ११९१ ईसवी की, अथवा वर्ष छः महीने इधर-उधर की, हैं। और इसी साल, अर्थात् ११९१ ईसवी में, देहली जीती गई थी। यदि किसी प्राचीन इमारत को तोड़कर यह मीनार बनाया जाता तो इस पर भी वैसी ही शेख़ी से भरे हुए वाक्य पाये जाते जैसे .कुतुब की मसजिद पर हैं। कोई कारण नहीं जान पड़ता कि २७ मन्दिरों को तोड़-कर मसजिद बनाने की बात तो लिखी जाय और ऐसे विशाल विजय-स्तम्भ पर, वहीं की प्राचीन हिन्दू-लाट, मकान या महल के तोड़े जाने की बात न रहे। उस समय, हिन्दुओं के प्राचीन स्थानों को तोड़कर, जो इमारतें मुसलमान बादशाह बनवाते थे उन पर, उन प्राचीन स्थानों के जाज्वल्यमान चिह्नों के साथ, उस विषय का लेख भी वे वहाँ खुदवा देते थे। इस बात का प्रमाण, .कुतुब की मसजिद के सिवा ढाई दिन के झोपड़े

के नाम से प्रसिद्धि पानेवाली अजमेर की मसजिद भी है। वहाँ पर प्राचीन मूर्तियों और प्राचीन मन्दिरों के निशान प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। यह मसजिद भी मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद बिन साम ही के शासन-काल में बनी थी। इस पर जो लेख है उसे कर्नल लीज़ ने प्रकाशित किया है। उसमें साफ़ लिखा है कि मन्दिरों को तोड़कर यह मसजिद बनवाई गई। "ताजुल-मआसिर" नाम के इतिहास में भी यह बात स्पष्ट लिखी है। अतएव यदि किसी पुरानी इमारत को तोड़कर यह मीनार बनाया जाता तो इस बात का उल्लेख अवश्य ही इस पर होता। इसके लेख, जिनमें मुहम्मद बिन साम का नाम है, इस बात की गवाही दे रहे हैं कि यह उसी का विजयस्तम्भ है; उसी के नाम से क़ुतुबुद्दीन ने बनवाया; और नया ही बनवाया। क़ुतुब-मीनार के नीचे के खण्ड में एक लेख था जो अब बहुत घिस गया है; परन्तु "क़ुतुबुद्दीन असफ़ेहसालार" का नाम उसमें अभी तक पढ़ा जाता है। इस लेख में शायद क़ुतुबुद्दीन के द्वारा मीनार के बनाये जाने का स्पष्ट उल्लेख रहा हो।

फ़ीरोज़शाह के समय में इस मीनार पर बिजली गिरी थी। उसके गिरने से इसके दो खण्ड बिगड़ गये थे। इन दो खण्डों की मरम्मत फ़ीरोज़शाह ने कराई। मरम्मत क्या, उनको नये सिरे से उसने बनवाया। इस विषय का लेख उस मीनार के पाँचवें खण्ड में है। यह ७७० हिजरी का, अर्थात् मीनार बनने के कोई १८३ वर्ष पीछे का, है। इसे हम नीचे देते हैं—

درین منارہ سنہ سبعین و سبعمایہ بہ آفت برق خلل
راہ یافتہ بود بتوفیق ربانی بر کشیدہ عنایت سبحانی
فیروز سلطانی این مقام را باحتیاط تمام عمارت کرد
خالق بیچون این مقام را از جمیع آفات مصیون داراد-

अक्षरान्तर—

दरीं मनारह सन सबईं व सबअमाया ब आफ़त बर्क़ ख़लल राह याफ्ता बूद। बतौफ़ीक रब्बानी बर कशीदा इनायत सुभानी फ़ीरोज़ सुल्तानी ईं मुक़ाम रा बयहतियात तमाम इमारत कर्द ख़ालिक़ बेचूँ ईं मुक़ाम रा अज़ जमीय आफ़ात मसयून दाराद।

भावार्थ—

७७० हिजरी में इस पर बिजली गिरी। फ़ीरोज़शाह ने इसकी मरम्मत कराई। ईश्वर इस स्थान को आफ़तों से बचावे।

फ़ीरोज़शाह ने अपना संक्षिप्त जीवनचरित अपने ही हाथ से लिखा है। उसका नाम है "फ़तूहाते फ़ीरोज़शाही"। सर एच० यलियट ने अपनी "हिस्टोरियन्स" (Historians) नाम की किताब के तीसरे भाग में उसका पूरा अनुवाद दिया है। इस आत्मचरित में फ़ीरोज़शाह ने एक जगह, इस प्रकार, लिखा है—

و منارہ سلطان معیدالدین سام را کہ از حادثہ
برق افتادہ بود بہتر از آنکہ بود از ارتفاع قدیمی
بلند تر مرمت کردہ شد—

अक्षरान्तर—

व मनारह सुल्तान मुइज़्ज़ुद्दीन साम रा के अज़ हादसै बर्क़ उफ़्तादा बूद बेहतर अज़ आँकि बूद अज़ इरतिफ़ाय क़दीमी बलन्द तर मरम्मत कर्दा शुद।

अर्थात्—

मुइज़्ज़ुद्दीन साम का मीनार, जो बिजली से गिर पड़ा था, पहले से भी अधिक ऊँचा मरम्मत किया गया।

मीनार बनने के डेढ़ ही दो सौ वर्ष पीछे होनेवाला फ़ीरोज़शाह उसे मुहम्मद बिन साम का मीनार बतलाता है। यदि पृथ्वीराज ने उसे अपनी लड़की के यमुना-दर्शन के लिए बनवाया होता तो फ़ीरोज़शाह अपने आत्म-चरित में मुहम्मद बिन साम का नाम क्यों लिखता?

इन बातों से तो यही सिद्ध होता है कि देहली विजय के उपलक्ष्य में मुहम्मद बिन साम के नाम से इसे क़ुतुबुद्दीन ऐबक ही ने बनवाया। सम्भव है, पृथ्वीराज की कोई इमारत वहाँ पहले रही हो और उसी पर या उसको तोड़कर यह मीनार बनाया गया हो; परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दरकार है।

[दिसम्बर १९०३

११—पेरू का प्राचीन सूर्य-मन्दिर

पेरू का प्रजातन्त्र राज्य दक्षिणी अमेरिका में है। उसका विस्तार ५, ०२, ७६० वर्ग मील है। उसकी लम्बाई १२४० मील और चौड़ाई ७० से ६०० मील तक है। पेरू में, सैकड़ों कोस तक, बालुकामय उजाड़ मैदान चले गये हैं, जहाँ न तो कोई पशु-पक्षी आदि जीव ही रह सकते हैं, और न घास का एक तिनका ही उग सकता है। बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वत भी पेरू में कई एक हैं। वहाँ प्राय: कभी पानी नहीं बरसता। यदि वहाँ सोने और चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं की खानें न होतीं तो कदाचित् ही सभ्य देशों के वासी वहाँ रह सकते। पेरू का प्रजा-सत्तात्मक स्वतन्त्र राज्य प्रशान्त-महासागर से लगा हुआ है। उसकी राजधानी लीमा नगर है।

अमेरिका को ढूँढ़ निकालने का सारा यश कोलम्बस ही को दिया जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। परन्तु उसके पाँच-छ: सौ वर्ष पहले ही नारवे के रहनेवाले नारवेजियन लोग अमेरिका गये थे और कई जगह बस गये थे। बहुत वर्षों तक उन्होंने अमेरिका के प्राचीन निवासियों के साथ व्यापार किया; परन्तु किसी कारण से, वे वहाँ से अपने देश को लौट गये और फिर वहाँ नहीं जा सके। इस विषय के अनेक प्रमाण मिले

हैं; एक आध लेख भी पाये गये हैं। इसलिए कोलम्बस के पहले नारवेजियन लोगों का अमेरिका जाना निर्विवाद है।

अमेरिका के प्राचीन निवासी प्रायः असभ्य और जङ्गली हैं। परन्तु पेरू के आदिम निवासी वैसे नहीं। वहाँ सभ्यता का प्रचार बहुत पुराने समय से है। १५८७ ईसवी में, जब पहले-पहल स्पेनवाले पेरू में पहुँचे तब उन्होंने वहाँ ह्वेना कपक नामक राजा को राज्य करते पाया। वह अपने वंश का बारहवाँ राजा था। उसकी राजधानी कज़्को नगर में थी। उस समय पेरू में सभ्यता का बहुत कुछ प्रचार था। प्रजा से कर लिया जाता था; न्यायाधीश नियत थे; प्रजा की रक्षा के लिए सेना रक्खी गई थी; खेती ख़ूब होती थी; मकान अच्छे-अच्छे थे; अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र-आभूषण आदि भी काम में आते थे; पुस्तकें थीं; काव्य था; धर्म्म-शास्त्र था। सभ्यता के प्रायः सभी चिह्न थे। १५३१ ईसवी में, स्पेन के पिज़ारो नामक सेनापति ने, ह्वेना कपक राजा पर विजय प्राप्त करके, उसकी राजधानी कज़्को अपने अधिकार में कर ली। तब से पेरू का प्राचीन राज्य नष्ट हो गया। पिज़ारो ने पेरूवालों को विद्या, बुद्धि, सभ्यता और कला-कौशल में अपने से बहुत बढ़कर पाया। उन लोगों ने पिज़ारो को सोने-चाँदी के बहुमूल्य आभूषण और रेशम और ऊन के बहुमूल्य वस्त्र नज़र किये।

पेरू की सरहद में टीटी काका नामक एक बड़ी झील है। कहते हैं, कोई १००० वर्ष हुए उसके किनारे मानको कपक

नामक एक मनुष्य अपनी स्त्री और बहन के साथ आया। देखने में उसका डील डौल बहुत भव्य था। वह अपने को "सूर्य का पुत्र" कहता था। उसने दूर-दूर जाकर व्याख्यानों द्वारा वहाँ के प्राचीन निवासियों को अपने अधीन कर लिया। कुछ दिनों में उसने कुज़को नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। मानको कपक ने क्रम-क्रम से सारा पेरू अपने अधिकार में कर लिया और आप वहाँ का राजा हो गया। वह धार्म्मिक, न्यायी और बुद्धिमान था। उसने लोगों में धार्म्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रचार किया; सब को खेती करना, कपड़ा बुनना और उत्तमोत्तम घर तथा मन्दिर बनाना सिखलाया। उसके अनन्तर उसी वंश के ११ राजे और हुए। उन राजों ने कला-कौशल की बड़ी उन्नति की। जहाँ-जहाँ उन्होंने अपना राज्य फैलाया, वहाँ वहाँ अनेक मन्दिर बनवाये; अनेक सड़कें बनवाईं; अनेक धर्म्मशालायें बनवाईं। ये राजे सूर्य के उपासक थे। इस उपासनावालों की 'इन्का' संज्ञा थी। इन्का लोगों के पहले भी जो लोग पेरू में थे वे वहाँ के जङ्गली मनुष्यों की अपेक्षा बहुत सभ्य थे; परन्तु सभ्यता का विशेष प्रचार इन्का राजों ही के समय में हुआ। इन्का लोगों के आचार-विचार और रीति-भाँति चीन के निवासियों से कुछ-कुछ मिलती है। इसलिए विद्वानों का तर्क है कि वे चीनवालों ही की सन्तति हैं। परन्तु कई बातें उनमें ऐसी हैं जो हिन्दुओं से भी समता रखती हैं। क्या आश्चर्य,

जो शङ्कराचार्य से परास्त किये जाने पर सौर, गाणपत्य और कापालिक आदि मतों के अनुयायी देशत्याग करके अमेरिका चले गये हों और वहाँ अपनी विद्या और सभ्यता से पेरू के प्राचीन निवासियों को अपने धर्म की दीक्षा देकर राजा हो गये हों ? बौद्ध लोगों का चीन, जापान, तिब्बत, लङ्का, कोरिया, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो आदि देशों और द्वीपों को जाना तो सिद्ध ही है। इसलिए सूर्य और गणपति आदि के उपासकों का अमेरिका जाना असम्भव नहीं। कपक और मानको आदि शब्द संस्कृत के अपभ्रंश जान पड़ते हैं।

पेरू में जहाँ प्राचीन नगर और इमारतें थीं, वहाँ खोदने पर हज़ारों वर्ष के पुराने बर्तन, कारागार, मन्दिर, मकान और मूर्त्तियाँ निकली हैं। कुछ मूर्तियाँ तो बहुत ही सुन्दर और बहुत ही बड़ी हैं। इस देश की मूर्तियों से वे बहुत कुछ मिलती हैं। इससे जान पड़ता है कि पेरू के प्राचीन निवासी मूर्तिपूजक थे। जहाँ तक पता लगा है, जान पड़ता है, उनकी सम्पत्ति की सीमा न थी। सोना और चांदी मिट्टी-मोल था। प्राचीन इन्का लोगों ने अपने मन्दिर बनाने में अपरिमित धन व्यय किया था। इन्का लोगों के मन्दिरों में सूर्य का एक मन्दिर बहुत ही विशाल और बहुत ही आश्चर्यमय था। वह इन्काओं की राजधानी कज़्को नगर में था। इस मन्दिर का विध्वंस स्पेनवालों ने कर डाला। जहाँ पर यह था वहाँ, इस समय, एक गिर्जाघर

विद्यमान है। इस मन्दिर का नाम कोरीकञ्चा था। कोरी-कञ्चा का अर्थ "सुवर्ण स्थान" है। इस नाम में कञ्चा शब्द संस्कृत 'काञ्चन' (सोना) का अपभ्रंश जान पड़ता है। इससे भी अनुमान होता है कि संस्कृत जाननेवाले लोगों ही ने इस मन्दिर को निर्माण कराया था। इस सूर्य-मन्दिर के जो वर्णन आज तक मिले हैं उससे जान पड़ता है कि ऐसा भव्य मन्दिर शायद पृथ्वी की पीठ पर दूसरा न रहा होगा। उसमें सूर्य की एक प्रतिमा थी और वह सूर्य ही के समान देदीप्यमान थी। सूर्य की यह प्रकाण्ड मूर्ति मन्दिर की पश्चिमी दीवार पर थी। मूर्ति बिलकुल सोने की थी। इस मूर्ति से सुवर्ण की प्रकाशमान किरणें चारों ओर फैली रहती थीं। मन्दिर में, इसके सिवा और अनेक देवताओं की भी सैकड़ों सुवर्ण-मूर्तियाँ थीं। आभूषणों की तो बात ही नहीं, पूजा और प्रसाद आदि के बड़े-बड़े बर्तन भी सब सोने ही के थे। जिस समय असल सूर्य की दीप्तिमान किरणें सब ओर इस मन्दिर पर पड़ती थीं उस समय वह सारा भवन दिव्य प्रकाश और दिव्य प्रभा का पुञ्ज हो जाता था। सूर्य की मनोमोहिनी मूर्ति के नीचे सोने की बहुमूल्य कुरसियों पर पुराने इन्का राजाओं की प्रतिमायें रक्खी थीं। मन्दिर के आँगन में छोटे-छोटे और भी कई मन्दिर थे। इन छोटे मन्दिरों में चन्द्रमा और शुक्र का मन्दिर औरों की अपेक्षा अधिक शोभाशाली था। इन सब मन्दिरों में भी सोने और चाँदी का काम था।

बेल, बूटे और चित्रों से कोई स्थान ख़ाली न था। विदेशी लोग इस महा अलौकिक मन्दिर को देखकर चकित होते थे और घण्टों तक एक ही जगह पर स्तब्ध खड़े रहकर, इसकी शोभा और कारीगरी को इकटक देखा करते थे।

इस मन्दिर के बनाने में अपरिमित धन लगा था। जब पिज़ारो ने कज़्को को अपने अधीन करके उसे लूट लिया तब उसके एक अधिकारी ने लूट के माल में से और कुछ न माँगकर केवल वे छोटी-छोटी कीलें माँगी जिनको जोड़कर इस मन्दिर का नाम दीवारों पर उठाया गया था। उसकी यह प्रार्थना स्वीकार हुई। जब ये सोने की कीलें तौली गईं तब २५ मन निकलीं! इसी से इस मन्दिर की बहुमूल्यता का अनुमान करना चाहिए।

हमारे देश में सूर्य के बहुत कम मन्दिर हैं। एक मन्दिर झाँसी के पास, दतिया राज्य के अन्तर्गत, उनाव नामक गाँव में है। उसमें सूर्य की जो मूर्ति है उसका आकार कज़्को की मूर्ति से मिलता है। कज़्को के इस प्राचीन मन्दिर का चित्र अँगरेज़ी भाषा की एक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। जान पड़ता है, मन्दिर को आँखों से देखकर यह चित्र नहीं उतारा गया। ध्वंस किये जाने पर उसके वर्णन पढ़कर, अटकल से, किसी चित्रकार ने उसे बनाया होगा।

[मई १९०४

१२—पाताल-प्रविष्ट पाम्पियाई नगर

किसी समय विसूवियस पहाड़ के पास इटली में एक नगर पाम्पियाई नाम का था। रोम के बड़े-बड़े आदमी इस रमणीय नगर में अपने जीवन का शेषांश व्यतीत करते थे। हरएक मकान चित्रकारियों से विभूषित था। दुकानें इन्द्र-धनुष के समान तरह-तरह के रङ्गों से रँगी हुई नगर की शोभा को और भी बढ़ा रही थीं। हर सड़क के छोर पर छोटे-छोटे तालाब थे, जिनके किनारे भगवान् मरीचिमाली के उत्ताप को निवारण करने के लिए यदि कोई पथिक थोड़ी देर के लिए बैठ जाता था तो उसके आनन्द का पार न रहता था। जब लोग रङ्ग-बिरङ्गे कपड़े पहने हुए किसी स्थान पर जमा होते थे तब बड़ी चहल-पहल दिखाई देती थी। कोई-कोई सङ्गमरमर की चौकियों पर, जिन पर धूप से बचने के लिए पर्दे टँगे हुए थे, बैठे दिखाई पड़ते थे। उनके सामने सुस-ज्जित मेज़ों पर नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन रक्खे जाया करते थे। गुलदस्तों से मेज़ें सजी रहती थीं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वहाँ का छोटे से छोटा भी मकान सुस-ज्जित महलों का मान-भङ्ग करनेवाला था। वहाँ का झोंपड़ा भी महल नहीं, स्वर्ग था।

यहाँ पर हम केवल एक ही मकान का थोड़ा सा हाल लिखकर पाठकों को बताना चाहते हैं कि पाम्पियाई उस समय उन्नति के कितने ऊँचे शिखर पर आरूढ़ था। पाम्पियाई में घुसते ही एक मकान दृष्टिगोचर होता था। उसकी बाहरी दालान रमणीय खम्भों की पंक्ति पर सधी हुई थी। दालान के भीतर घुसने पर एक बड़ा-लम्बा चौड़ा कमरा मिलता था। वह एक प्रकार का कोश-गृह था। उसमें लोग अपना-अपना बहुमूल्य सामान जमा करते थे। वह सामान लोहे और ताँबे के सन्दूक़ों में रक्खा रहता था। सिपाही चारों तरफ़ पहरा दिया करते थे। रोमन देवताओं की पूजा भी इसी में हुआ करती थी। इस कमरे के बराबर एक और कमरा था। उसमें मेहमान ठहराये जाते थे। उसी में कचहरी थी। इससे भी बढ़कर एक गोल कमरा था। उसके फ़र्श में सङ्गमरमर और सङ्गमूसा का पच्चीकारी का काम था। दीवारों पर उत्तमोत्तम चित्र अङ्कित थे। इस कमरे में पुराने इतिहास और राज्य-सम्बन्धी काग़ज़ात रहते थे। यह कमरा बीच से लकड़ी के पर्दों से दो भागों में बँटा हुआ था। दूसरे भाग में मेहमान लोग भोजन करते थे। इसके बाद देखनेवाला यदि दक्षिण की तरफ़ मुड़ता तो एक और बहुत बड़ा सजा हुआ कमरा मिलता। उसमें सोने का प्रबन्ध था। कोचें बिछी हुई थीं। उन पर तीन-तीन फ़ुट ऊँचे रेशमी गद्दे पड़े रहते थे। इसी कमरे में, दीवार के किनारे-किनारे, आल-

मारियाँ रक्खी थीं। उनमें बहुमूल्य रत्न और अन्यान्य आश्चर्यजनक प्राचीन-काल की चीज़ें रक्खी रहती थीं। इस मकान के चारों तरफ़ एक बड़ा ही मनोहारी बाग़ीचा था। जगह-जगह पर फ़व्वारे अपने सलिलसीकर बरसाते थे। उनकी बूँदें बिल्लौर के समान चमकती हुई भूमि पर गिरकर बड़ा ही मधुर शब्द करती थीं। फ़व्वारे के किनारे-किनारे माधवी-लतायें कलियों से परिपूर्ण शरद् ऋतु की चाँदनी का आनन्द देती थीं। फ़व्वारों के कारण दूर-दूर तक की वायु शीतल हो जाती थी। जहाँ-तहाँ सघन वृक्षों की कुञ्जें थीं, जिनमें सङ्गमरमर की मूर्तियाँ रक्खी हुई थीं।

आगे चलकर गर्मियों में रहने के लिए एक मकान था, जिसे हम "मदन-विलास" कह सकते हैं। पाठक, कृपा करके इसके भी दर्शन कर लीजिए। इसकी भी सजावट अपूर्व थी। इसमें जो मेज़ें थीं वे देवदारु की सुगन्धित लकड़ी की थीं। उन पर चाँदी-सोने के तारों से तारकशी का काम था। सोने-चाँदी कीं रत्नजटित कुर्सियाँ भी थीं। उन पर रेशमी झालरदार गद्दियाँ पड़ी हुई थीं। कभी-कभी मिहमान लोग इसमें भी भोजन करते थे। भोजनोपरान्त वे चाँदी के बरतनों में हाथ धोते थे। उसके बाद बहुमूल्य शराब, सोने के प्यालों में, उड़ता था। पानोत्तर माली प्रसूनस्तबक मिह-मानों को देता था और सुमनवर्षा होती थी। अन्त में नृत्य आरम्भ होता था। इसी गायन-वादन के मध्य में इत्र-पान

होता था और गुलाब-जल की वृष्टि होती थी। ये सब बातें अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक़ सभी के यहाँ होती थीं। त्योहार पर तो सभी ऐसा करते थे।

एक दिन कोई त्योहार मनाया जा रहा था। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ सभी आमोद-प्रमोद में मग्न थे। इतने में अकस्मात् विसूवियस से धुआँ निकलता दिखाई दिया। शनैः-शनैः धुएँ का ग़ुबार बढ़ता गया। यहाँ तक कि तीन घण्टे दिन रहे ही चारों ओर अन्धकार छा गया। सावन-भादों की काली रात सी हो गई। हाथ को हाथ न सूझ पड़ने लगा। लोग हाहाकार मचाने और त्राहि-त्राहि करने लगे। जान पड़ा कि प्रलय आ गया। जहाँ पहले धुआँ निकलना शुरू हुआ था वहाँ से अब ज्वाला निकलने लगी। लोग भागने लगे। परन्तु भागकर जाते भी तो कहाँ? ऐसे समय में भाग निकलना नितान्त असम्भव था। अँधेरा ऐसा घनघोर था कि बहन भाई से, स्त्री पति से, माँ बच्चों से बिछुड़ गईं। हवा बड़े वेग से चलने लगी। भूकम्प हुआ। मकान धड़ा-धड़ गिरने लगे। समुद्र से चालीस-चालीस गज़ ऊँची लहरें आने लगीं। हवा भी गर्म मालूम होने लगी और धुआँ इतना भर गया कि लोगों का दम घुटने लगा। इस महाघोर सङ्कट से बचाने के लिए लोग ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। पर सब व्यर्थ हुआ। कुछ देर में पत्थरों की वर्षा होने लगी, और, जैसे भादों में गङ्गाजी उमड़ चलती हैं वैसे ही गर्म पानी की

तरह पिघली हुई चीज़ें ज्वालामुखी से बह निकलीं। उन्होंने पाम्पियाई का सर्वनाश आरम्भ कर दिया। मिहमान भोजन-गृह में, स्त्री पति के साथ, सिपाही अपने पहरे पर, क़ैदी क़ैद-ख़ाने में, बच्चे पालने में, दुकानदार तराज़ू हाथ में लिये रह गये। जो मनुष्य जिस दशा में था वह उसी में रह गया। बहुत समय बाद, शान्ति होने पर, अन्य नगरवासियों ने वहाँ आकर जो देखा तो सिवा राख के ढेर के और कुछ न पाया। वह राख का ढेर ख़ाली ढेर न था। उसके नीचे हज़ारों मनुष्य अपनी जीवनयात्रा पूरी करके सदैव के लिए सोये हुए थे। हाय! किस-किस के लिए कोई अश्रुपात करे? यह दुर्घटना २३ अगस्त ७९ ईसवी की है। १६४५ वर्ष बाद जो यह जगह खोदी गई तो जो-जो वस्तु जहाँ थी वहीं मिली।

यह प्रायः सारा शहर का शहर पृथ्वी के पेट से निकाला गया है। अब भी कभी-कभी इसमें यत्र-तत्र खुदाई होती है और अजूबा-अजूबा चीज़ें निकलती हैं। पाम्पियाई मानों दो हज़ार वर्ष के पुराने इतिहास का चित्र हो रहा है। दूर-दूर से दर्शक उसे देखने जाते हैं।

[आक्टोबर १९११

१३—ढाई हज़ार वर्ष की पुरानी क़बरें

इँगलेंड में कार्नवाल एक सूबा है। उसके उत्तर, समुद्र के किनारे, "हारलीनबे" नामक एक जगह है। वहाँ कोई ढाई हज़ार वर्ष की पुरानी क़बरें निकली हैं। इतनी पुरानी क़बरें आज तक किसी और पश्चिमी देश में नहीं निकलीं थीं। इन क़बरों के भीतर मनुष्यों के जो अस्थिकङ्काल निकले हैं वे सम्पूर्ण रूप से अच्छी दशा में हैं। जिन लोगों की ये हड्डियाँ हैं वे किस समय में थे और उनका जीवन-व्यापार कैसा था, इस विषय का विचार अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस समय कर रहे हैं।

इन क़बरों के निकलने के पहिले "हारलीनबे" का कोई नाम तक न जानता था। वहाँ बस्ती भी कम थी। परन्तु इसकी रमणीकता और प्राकृतिक सौन्दर्य पर मोहित होकर रेडी नाम के एक साहब ने कुछ ज़मीन वहाँ पर लेकर उस पर मकान बनाना चाहा। मकान की नींव खोदने में, १४ .फुट की गहराई पर, रेडी साहब को एक क़बर मिली। यह क़बर एक ऐसे तहख़ाने में थी जो स्लेट नाम के एक बहुत मुलायम और .खूबसूरत पत्थर का बना हुआ था। इस क़बर के भीतर हड्डियों के साथ हज़ारों वर्ष के पुराने कुछ ऐसे ज़ेवर और औज़ार निकले जो इस क़बर की प्राचीनता के सूचक थे। इस पर जो और ज़मीन खोदी गई तो मालूम हुआ कि

यह एक बहुत ही पुराना क़ब्रिस्तान है—उस समय का जब कि ब्रांज नामक धातु के औज़ार काम में आते थे।

इसकी ख़बर कार्नवाल की रायल सोसायटी को दी गई और चन्दे से बहुत सा रुपया जमा करके यह जगह अच्छी तरह खोदी गई। कोई पचास हज़ार मन रेत और मिट्टी के नीचे दबी हुई सैकड़ों क़ब्रें यहाँ पर मिलीं। कितने ही कङ्काल अच्छी हालत में जैसे के तैसे मिले। स्लेट के बने हुए कितने ही तहख़ाने भी अच्छी हालत में मिले। हड्डियों के साथ जो चीज़ें निकलीं वे, अत्यन्त पुरानी होने के कारण, बड़े ही महत्त्व की समझी गईं।

जो अस्थिकङ्काल और चीज़ें इन क़ब्रों में मिलीं उनमें से कुछ तो एक अजायबघर में रक्खी गई हैं और कुछ वहीं पर, एक मकान में, शीशे के छोटे-छोटे बक्सों में। जो चीज़ें मिली हैं उनमें से कितने ही कंघे, अँगूठियाँ, कड़े और छोटी-छोटी गोलियाँ हैं। स्लेट और शङ्ख की भी कितनी ही चीज़ें हैं। कई चीज़ों के ऊपर तरह-तरह के भद्दे चित्र खुदे हुए हैं, जिससे साबित होता है कि ढाई-तीन हज़ार वर्ष पहले वहाँ के लोगों को नक़्श की हुई चीज़ें पहनने का शौक़ हो चला था।

वहाँ पर जो खोपड़ियाँ निकली हैं उनमें से बहुत सी इतनी अच्छी दशा में हैं कि उन्हें देखकर शरीर-शास्त्र के जानने-वाले झट पहचान जाते हैं कि ये स्त्रियों की हैं या पुरुषों की। दाँत तक इन खोपड़ियों में से किसी-किसी में अभी तक पूर्ववत्

बने हुए हैं। इन खोपड़ियों में एक यह विचित्रता है कि इनकी शक्ल कुछ-कुछ बन्दरों की खोपड़ियों से मिलती है। ऊपर का हिस्सा तो छोटा है, पर नीचे का जबड़ा बड़ा। हड्डियों को देखने से मालूम होता है कि इन लोगों की उँचाई ५ फ़ुट ४½ इञ्च रही होगी।

इस क़ब्रिस्तान में छः क़ब्रें खोदकर खुली हुई छोड़ दी गई हैं। उनके ऊपर शीशे के घर बना दिये गये हैं। क़ब्रों में पाई गई हड्डियाँ साफ़ करके जैसी की तैसी रख दी गई हैं। किसी क़ब्र में एक ठठरी है, किसी में दो और किसी में ज़्यादह ठठरियाँ, बैठी हुई दशा में, हैं। उनके घुटने ऊपर को ठुड्ढी से लगे हुए हैं। एक क़ब्र की हड्डियाँ नीचे पड़ी हुई हैं। कई हड्डियों पर चोट के चिह्न हैं। कुछ हड्डियाँ चिपटी हो गई हैं। बहुत लोगों का ख़याल है कि उस ज़माने में लोग मनुष्यों का बलिदान देते थे। जब कोई दावत या धार्मिक काम होता था तब एक-आध आदमी का बलिदान ज़रूर किया जाता था। उसकी हड्डियाँ तोड़-फोड़कर क़ब्र में गाड़ देते थे। एक क़ब्र के भीतर एक खोपड़ी मिली, जो कई जगह से टूटी है। नाक की हड्डी कटी हुई है। तीन दाँत अपनी जगह से हटकर नीचे के जबड़े में घुस गये हैं। इससे मालूम होता है कि जिस आदमी का बलिदान दिया जाता था वह बुरी तरह से मारा जाता था। उसका सिर पत्थर या किसी और औज़ार से तोड़ दिया जाता था।

जितने पुरातत्त्व-विद्वानों को इन क़बरों की हड्डियाँ और कङ्काल दिखलाये गये सबने यही राय दी कि ये क़बरें ढाई हज़ार वर्ष से कम पुरानी नहीं हैं, अधिक चाहे हों। किसी-किसी का यह ख़याल है कि ये उस समय की क़बरें हैं जब रोमन लोगों के क़ब्ज़े में इँगलिस्तान नहीं आया था। लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले लोगों के सिर गोल नहीं होते थे। वे कुछ-कुछ चिपटे होते थे। उसी समय की ये क़बरें हैं। दाँतों की परीक्षा से मालूम होता है कि जिन लोगों के ये दाँत हैं वे अनाज अधिक खाते थे, मांस कम; क्योंकि दाँत बहुत घिसे हुए हैं। मालूम होता है कि तब तक इन लोगों के पास शिकार करने के लायक़ कोई अच्छे शस्त्र न थे। इन क़बरों में एक भी सिक्का नहीं मिला, जो इनकी प्राचीनता का बहुत बड़ा प्रमाण है।

[जून १९०८

१४—तीस लाख वर्ष के पुराने जानवरों की ठठरियाँ

प्राचीन काल में कुछ जानवर ऐसे होते थे जो आजकल नहीं पाये जाते। डीनोसार जात्यन्तर्गत ट्रेचोडोंट शाखा के रेंगनेवाले जीव भी ऐसे ही जानवरों में हैं। इनकी दो ठठरियाँ न्यूयार्क (अमेरिका) के अजायबघर में, हाल ही में, प्रदर्शिनी के लिए रक्खी गई हैं।

इस जानवर की ठठरियाँ अब तक योरप और अमेरिका में बहुत पाई गई हैं। पर ये दोनों ढाँचे ऐसे पूर्ण और जुदी-जुदी हालतों में हैं कि इनकी परीक्षा करने में बड़ा सुभीता होता है।

विद्वानों का अनुमान है कि यह जानवर तीस लाख वर्ष पहले होता था। उस समय डीनोसार जाति की अन्य शाखाओं की अपेक्षा ट्रेचोडोंट शाखा के जानवर बहुत अधिक थे। इन ठठरियों के रङ्ग-ढङ्ग से मालूम होता है कि जिस समय में ये मरे हैं उस समय दोनों चर रहे थे। उनमें से एक अपने किसी वैरी जानवर के आ जाने से चौंक पड़ा है और उँगलियों के बल खड़ा हो गया है। दूसरे को आनेवाली विपद का ज्ञान नहीं है। वह चुप-चाप चरने में मग्न है। इतने प्राचीन काल की घटना के इस अनुमान के ठीक होने में कोई सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिस समय

हम इसके ढाँचे को और तत्कालीन पत्तियों, झाड़ियों, पेड़ों के तनों और फलों के चिह्नों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उस समय इस अनुमान के सिवा और कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। खड़ी ठठरी के पिछले बाँयें पैर पर तीन घाव हैं। वे इस जीव के किसी वैरी के किये हुए हैं। उन्हें देखकर यह अनुमान और भी दृढ़ हो जाता है।

जैसा हम पहले कह आये हैं, ट्रेचोडोंट तीस लाख वर्ष पहले विद्यमान था। उस समय ये जानवर योरप और अमेरिका के कई स्थानों में पाये जाते थे। विशेष कर अमेरिका के न्यूजर्सी, मिसीसिपी, अलबामा, बोमिङ्ग, मोटाना, डकोटा आदि स्थानों में। क्योंकि यहीं इसकी ठठरियाँ अधिकता से पाई गई हैं।

जब से इस जाति के जानवर का वंश-नाश हुआ तब से अब तक इसकी ठठरियों के ऊपर अटलांटिक महासागर के किनारों पर कई हज़ार फ़ुट ऊँची चट्टानें जम गई हैं। भूगर्भ-विद्याविशारदों का कथन है कि इन चट्टानों की इतनी तहें तीस लाख वर्ष से अधिक काल में जम सकती हैं। इससे आप इन ठठरियों की प्राचीनता का अनुमान कर सकते हैं।

अमेरिका की पश्चिमी रियासतों में पहाड़ियों और घाटियों की बड़ी अधिकता है। इन्हीं पहाड़ियों के पास एक अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ जगह में यह खड़ी ठठरी, सन् १६०४ में, पाई गई थी। जिस आदमी ने इसे पाया था

उससे १६०६ में न्यूयार्क के अजायबघर के प्रबन्ध-कर्ताओं ने ख़रीद लिया।

दूसरी ठठरी डकोटा रियासत की मोरो नदी के पास मिली थी। इसे अध्यापक कोप नाम के एक साहब के आदमियों ने, १८८२ में, पाया था। उन्होंने बड़ी मुशकिल से, बहुत कहने-सुनने पर, इसे अजायबघरवालों के हाथ बेचा।

ट्रेचोडोंट जानवर की गिनती रेंगनेवाले जीवों में है। उसकी अगली टाँगें बहुत छोटी हैं। पर पिछली टाँगें और पूँछ ख़ूब लम्बी हैं। दाँतों की बनावट से मालूम होता है कि यह जानवर मांसभक्षी न था; किन्तु फल, मूल, घास, पात आदि खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इसका मुँह फैला हुआ होता था और बत्तख़ की तरह चौड़ी चोंच भी होती थी, जो एक हड्डीदार ग़िलाफ़ से ढकी रहती थी। उसके मुँह में सब मिलाकर दो हज़ार दाँत होते थे।

शरीर के अगले भाग की अपेक्षा पिछला भाग छः गुना अधिक बड़ा था। क़द और पैर की हड्डियों के आकार से जान पड़ता है कि वह तौल में बहुत भारी न होता था। ठठरियों में अगले पैर के सिरे पर चार अँगुलियाँ हैं। पर अँगूठा बहुत छोटा है। स्थूलाकार पिछली टाँगों में तीन लम्बी-लम्बी उँगलियाँ हैं, जिनके सिरे खुर की तरह जान पड़ते हैं। जब यह खड़ा होता था तब इसकी उँचाई सत्रह फ़ुट होती थी।

लम्बी पूँछ से इस जानवर को पानी में चलने में बड़ी मदद मिलती रही होगी। ज़मीन पर खड़े होने में भी वह बहुत सहायता पहुँचाती होगी। विद्वानों का अनुमान है कि इस जाति के जानवर बड़े बेढब तैरनेवाले होते थे। उनकी ठठरियाँ बहुधा ऐसी चट्टानों में पाई गई हैं जो समुद्र के भीतर मग्न थीं। इन चट्टानों में समुद्री घोंघे, सीपी आदि भी पाई गई हैं।

आजकल जितने प्रकार के रेंगनेवाले जानवर जीवित हैं उनमें से दक्षिणी अमेरिका के इगुवाना नामक जानवर का स्वभाव और चाल-ढाल इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। ये जानवर यहाँ के गलपागोस नामक टापू में झुण्ड के झुण्ड पाये जाते हैं। जो चीज़ें समुद्र में पैदा होती हैं उन्हीं पर ये अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ये जानवर साँप की तरह सारा शरीर और लम्बी पूँछ हिलाकर समुद्र में बड़ी आसानी से तैरते हैं।

यह जानवर पानी में घुसकर मांस-भक्षी जन्तुओं से अपनी रक्षा करता होगा। क्योंकि सींग आदि रक्षा करनेवाला कोई दृढ़ अङ्ग इसके नहीं होता था। इसका चमड़ा उभड़े हुए छोटे-छोटे दानों से ढका रहता था। हाल ही में एक ऐसी ठठरी मिली है जिसकी पूँछ की हड्डियों पर चमड़े के चिह्न हैं। इसकी हड्डियों के साथ तरह-तरह की पत्तियों, फलों और पेड़ों के तनों के चिह्न चट्टानों में अब तक रक्षित

हैं। इस जाति के पेड़ वर्त्तमान समय में गर्म देशों में पाये जाते हैं, इससे मालूम होता है कि उस समय की आबोहवा बहुत गर्म थी।

भूकम्प आदि प्राकृतिक कारणों से अमेरिका महाद्वीप के ऊँचे हो जाने से दलदलदार नीची भूमि लुप्त हो गई। आबो-हवा भी गर्म की जगह ठण्ढी हो गई और पहले के से पौधे, पेड़ आदि भी न रहे। इससे कितने ही जलचर जानवरों की भी वही दशा हुई जो जल से बाहर निकली हुई मछली की होती है। इस जाति का जानवर जो सदा के लिए लुप्त हो गया, इसका मुख्य कारण यही है।

[अप्रेल १९०९

ह
ह
ह
ट
भ
भ

हैं
स
ये
प
ये
त
अ

ऐस
चि
फल

द्विवेदी-ग्रन्थावली

आख्यायिका-सप्तक

इस पुस्तक में सात आख्यायिकाएँ हैं। सब इतनी सुन्दर तथा मनोरञ्जक हैं कि पुस्तक बिना पूरी पढ़े छोड़ने को जी नहीं चाहता। प्रत्येक कहानी जीवन के किसी अंश का ख़ासा पाठ पढ़ाती है। ये आख्यायिकाएँ मनोरञ्जन के साथ-साथ जीवन को सुखमय बना देती हैं। मूल्य दस आने।

विदेशी विद्वान्

इस पुस्तक में वर्णित विदेशी विद्वानों के चरित्र पढ़ने लायक़ हैं। स्वजाति-सेवा, शिक्षा-प्रेम, व्यवसाय-नैपुण्य, नूतन धर्म-स्थापना आदि का इन जीवनियों में अच्छा दिग्दर्शन होता है। ऐसी पुस्तकों से न सिर्फ़ आदर्शों का ही पता लगता है बल्कि विदेशी ढङ्ग की भी बहुत सी बातें मालूम होती हैं। मूल्य केवल एक रुपया।

कोविद-कीर्त्तन

इसमें भारत के अर्वाचीन १२ महापुरुषों और विद्वानों के चरित्र, उनकी कृति तथा अन्य आवश्यकीय जीवन-सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें रोचक भाषा में लिखी गई हैं। फिर द्विवेदीजी की लेखनी का चमत्कार किसे नहीं मालूम। पढ़ने से जीवन पर तो असर पड़ता ही है साथ ही मनोरञ्जन भी होता है। भारतीय नवयुवकों के लिए ऐसी पुस्तकों के पढ़ने की आवश्यकता है। मूल्य केवल एक रुपया।

आध्यात्मिकी

इस पुस्तक में आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, निरीश्वरवाद, जीवन क्या वस्तु है, पुनर्जन्म, ज्ञान, सृष्टि-विचार आदि विषयों पर मार्मिक विचार किया गया है। पुस्तक के पढ़ने से भारतीय पुरुषाओं के अध्यात्म-सम्बन्धी विचारों की उत्तमता और दृढ़ता ज्ञात होती है और मालूम होता है कि भारतीय ज्ञान से संसार के प्राणियों को शान्ति प्राप्त होती थी। पृष्ठ-संख्या २०० से ऊपर। मूल्य एक रुपया।

आलोचनाञ्जलि

हिन्दी संसार में द्विवेदीजी के लिखे हुए समालोचनात्मक लेखों की ख़ासी क़द्र है। आपके लिखे हुए इस श्रेणी के लेखों को पढ़ने से बड़ी पुस्तकों और प्रसिद्ध कवियों का परिचय बड़ी सुगमता से हो जाता है। इस पुस्तक में इस ढँग के १२ लेख हैं जिनमें से किसी में शकुन्तला पर प्रकाश डाला गया है, किसी में ज्योतिष-वेदाङ्ग, गीताभाष्य, रामायण और श्रीमद्भागवत आदि का आलोचनात्मक परिचय है। सभी प्रबन्ध एक से एक उत्तम हैं। पृष्ठसंख्या पौने दो सौ से ऊपर। सुन्दर जिल्द। मूल्य सिर्फ़ एक रुपया।
